Dr Sir Jadunath Sarkar M. A C I E

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक का आकार पूर्वानुयोजित आकार की अपेक्षा बहुत कम है। इस कमी का मुख्य कारण मुद्रण के व्यय को कम करना है। ऐसी स्थिति में कितने ही उपयोगी वृत्तान्त, जिनका देना आवश्यक था, छूट गए हैं। परन्तु मेरा विचार है कि इस संक्षिप्त रूप में भी यह पुस्तक दशनामी संन्यासियों की भूतकालीन सेवाओं तथा वर्तमान समय में भारतीय राष्ट्र में उनके स्थान के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डालेगी। राजेन्द्र गिरि तथा उनके शिष्योंवाले अध्याय शान्तिनिकेतन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्रीविनोदभूषण राय एम० ए० द्वारा लिखे गए हैं उन्होंने इस विषय में पहले से मेरे द्वारा लिखी गई सामग्री (मुगल साम्राज्य का पतन, ४ खण्डों में) तथा उस काल पर लेखक-कृत पाण्डुलिपि, टिप्पणियों व सारांश-वृत्तान्त का उपयोग किया है। उनके द्वारा लिखी गई सामग्री के प्रारूप का मैंने संशोधन किया है तथा मुद्रण के लिए जाने के पूर्व उनको देखकर मैंने अपनी स्वीकृति दी है। इस सहयोग के लिए उन्हें बहुत धन्यवाद। इस सहयोग के कारण पुस्तक के पूरा होने में और अधिक विलम्ब नहीं लगा।

लेखक निर्वाणी अखाड़ा, प्रयाग के महन्त दत्त गिरि का भी कृतज्ञ है, जिन्होंने मूल अभिलेख तथा अधिकार-पूर्ण लेख मेरे हाथों में देकर अमूल्य सहायता प्रदान की है। इस सामग्री के बिना इस सम्प्रदाय के विश्वसनीय इतिहास का लिखा जाना असम्भव था। तीस वर्ष से महन्त दत्त गिरि इस दिशा में सतत प्रयत्नशील रहे हैं। उन्होंने सारे भारत की यात्रा कर, समस्त मठों एवं रियासतों में जाकर, महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से मिलकर तथा लिखा-पढ़ी कर इस इतिहास के लिए उपयोगी सामग्री एकत्रित की। यदि इस पुस्तक में कोई अच्छाई है तो उसका श्रेय महन्त जी को है और पाठकों को इस इतिहासप्रेमी संन्यासी दत्त गिरि के ही प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

यदुनाथ सरकार

* पूर्वाभास *

दशनामी सम्प्रदाय सम्भवतः यह सब से अधिक शक्तिशाली धार्मिक संगठन है जिसने भारतीय इतिहास की गतिविधि को प्रभावित करने में अपना महत्वपूर्ण योग दिया है।

नागा सम्प्रदाय की यह परम्परा प्रागऐतिहासिक है। उस समय जब कि उत्तर प्रदेश और बिहार केवल निर्जन दलदली स्थल थे, सम्भवतः तभी ऐसे जीवन का प्रादुर्भाव हो गया था। सिन्ध की रम्य घाटी में स्थित विख्यात मोहेन्जेदड़ो की खुदाई में पाई जाने वाली मुद्रा तथा उस पर पशुओं द्वारा पूजित एवं दिगम्बर रूप में विराजमान पशुपति का अंकन इस बात का प्रमाण है। वैदिक वाङ्मय मे भी ऐसे जटाजूटधारी तपस्वियों का वर्णन मिलता है। कैलाश के उत्तुंग शिखर पर निवास करने वाले भगवान शिव इनके आदि देव हैं। ऐसे तपस्वियों के धार्मिक संघ उस समय भारत मे विद्यमान थे जब कि इतिहास की उपः-किरणों का प्रस्फुटन भी न हुआ था। सिकन्दर महान के

साथ आए हुए यूनानियों को अनेक दिगम्बर दार्शनिकों (जिमनोसोफिस्ट्स) के दर्शन हुए थे। वस्तुतः बुद्ध और महावीर ऐसे ही सन्तों के दो प्रधान संघों के अधिनायक थे। अब भी भारत के कितने ही प्रदेशों मे दिगम्बर जैनी पाये जाते हैं।

इन दिगम्बर तपस्वियों में से अधिकांश ऐसे हैं जो धार्मिक पर्वों आदि के समय बिना वस्त्रों के ही निर्वाह करते हैं। इनमें से तो कितने ऐसे हैं जो अभी तक बिना किसी सामग्री के विचरण करने वाले व्रत का पालन कर रहे हैं।

इन नागाओं में से अधिकांश आचार्य शंकर द्वारा संगठित सबसे पुरातन और सबसे विशाल व प्रभावशाली संघ—दशनामी सम्प्रदाय—के अन्तर्गत आते हैं। दीक्षा के समय प्रत्येक दशनामी जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, निम्नलिखित नामों—गिरी, पुरी, भारती, वन अरण्य, पर्वत, सागर, तीर्थ, आश्रम या सरस्वती में से किसी एक नाम से अभिभूषित किया जाता है। इसके पश्चात उसे कुछ प्रतिज्ञाएँ करनी होती हैं जिनके अनुसार वह यह संकल्प करता है कि वह दिन में एक बार से अधिक भोजन नहीं ग्रहण करेगा, सात घरों में से अधिक

घरों से मधुकरी नहीं मांगेगा, भूमि के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थान में शयन नहीं करेगा; न वह किसी के सन्मुख नतमस्तक होगा न किसी की प्रशंसा करेगा, न किसी के विपरीत दुर्वचनों का प्रयोग करेगा और न अपने से श्रेष्ठ श्रेणी के सन्यासी को छोड़कर अन्य किसी को अभिवादन करेगा तथा गेरुआ वस्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्त्र से अपने को आच्छादित नहीं करेगा।

अन्य सम्प्रदायों की भाँति इस सम्प्रदाय में भी विद्वान सन्यासी है जो आध्यात्मिक गुरुओं के रूप में समादृत होते हैं; योगी है जिन्होंने यौगिक क्रियाओं में कुशलता प्राप्त करली है, महन्त हैं जो मन्दिरों, मठों, अखाड़ों व उनके साधुओं आदि की देख रेख रखते हैं; सामान्य सदस्य है जो देश में यत्र-तत्र फैले हैं और ग्रहस्थ जीवन बिताते तथा व्यापार आदि के द्वारा अपना जीविकोपार्जन करते है।

इन दशनामियों के दो अंग हैं:—शस्त्रधारी और अस्त्रधारी। शस्त्रधारी शस्त्रों आदि का अध्ययन कर अपना आध्यात्मिक विकास करते हैं तथा अस्त्रधारी अस्त्रादि में कुशलता प्राप्त करते हैं। इन सन्यासियों

की चार श्रेणियाँ है—कुटीचक, बहूदक, हंस और परम हंस। परमहंस सर्वश्रेष्ठ माने जाते है। अस्त्रधारी वर्ग अखाड़ों के रूप में संगठित है। भारतीय इतिहास के कितने ही पृष्ठ ऐसे सन्यासियों के पराक्रम के कार्यों से रंगे पड़े हैं।

राज्यभवन
लखनऊ, उत्तर प्रदेश } कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	१२	वह मिट्टी	उस मिट्टी
१४	५	वाघा	वाधा
३१	१७	नागाश्र	नागाओं
६३	१	लेखा	लेखों
"	६	बाद	बाद में
६४	६	सरदारों	सरदार
६६	१७	आक्रण	आक्रमण
८२	११	गय	गया
८७	२	छानकर	छीनकर
६६	२१	वचार	विचार
१०५	११	बुन्दल	बुलन्द
१२१	१०	गसाईं	गोसाईं
"	१३	आर	और
१२२	१७	का	को
१२३	६	कमजार	कमजोर
१२७	६	तक का	तक की
१२६	६	संरच्त कण	संरक्षण
१३८	१४	आयहोती	आय होती

विषय-सूची

श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी का

संक्षिप्त परिचय

भारत के कोने-कोने में फैले हुए दशनामी नागा संन्यासियों के अखाड़ों का महत्त्व धार्मिक ही नहीं, राजनैतिक दृष्टि से भी बहुत कुछ है। इन अखाड़ों की स्थापना जिस उद्देश्य को लेकर हुई थी तथा उत्तर मुगल-कालीन इतिहास की गति-विधि को प्रभावित करने में इन अखाड़ों के नागा-संन्यासियों ने अपने जिस अद्भुत पराक्रम का परिचय दिया, उस पर अन्यत्र प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ हमें केवल इतना कहना है कि अखाड़ों का संगठन, उनकी व्यवस्था, उनके नियम आदि भी अपना एक अलग स्थान रखते हैं। उनके प्रबन्ध में जनतंत्रात्मक तत्त्वों का समावेश, वैदिक धर्म-प्रदीप को देदीप्यमान रखने का, आचार्य शंकर के अद्वैत-प्रचार का संकल्प, उनकी कठोर अनुशासन-युक्त व्यवस्था किसी के भी लिए आदर्श का काम दे सकती है। वैसे तो दशनामी संन्यासियों के प्रत्येक अखाड़े की

अपनी-अपनी विशेषता है पर इन अखाड़ों में सबसे अधिक विशेषता रखनेवाला तथा सर्वोपरि स्थान-युक्त अखाड़ा महानिर्वाणी है। इस अखाड़े की स्थापना विक्रमी संवत् ८०५ अगहन सुदी दशमी को हुई थी। इसका प्रधान केन्द्र प्रयाग के दारागंज मुहल्ले में है। इस अखाड़े के संन्यासियों की अपनी एक विशिष्ट परम्परा रही है और इस अखाड़े के नागे संन्यासी बड़े शूर-वीर तथा पराक्रमी हो गये हैं। सर्व श्री राजेन्द्र गिरि जी, राजा अनूप गिरि उर्फ हिम्मत बहादुर जी, झाबुआ के मुकुन्द गिरि जी, जोधपुर के दौलत पुरी जी, जैसलमेर के भैरव पुरी जी तथा उदयपुर के नीलकंठ गिरि जी आदि जैसे रत्नों के नाम से उत्तर मुगलकालीन भारत के इतिहास के कितने ही पृष्ठ रँगे पड़े हैं। गायकवाड़, उदयपुर, जोधपुर, जैसलमेर, पूना, नागपुर आदि की राजगद्दियों से आज भी इनको प्राप्त होनेवाली अनुवृत्ति उनके उसी शौर्य का पुरस्कार है। इन स्थानों में आज भी इस अखाड़े के प्रतीक सूर्यप्रकाश, भैरवप्रकाश आदरपूर्वक विराजमान हैं।

इस अखाड़े के इतिहास पर एक दृष्टि डालने से पता चलता है कि सन् १८५७ तक इस अखाड़े के उन्नायक तत्कालीन राजनीतिक दाँव-पेचों में हाथ बँटाते

रहे। इन्होंने १८५७ की महान् क्रान्ति में भी पेशवा नाना साहब तथा महारानी लक्ष्मीबाई को सहयोग प्रदान कर अपने पराक्रम का अच्छा परिचय दिया था। पर १८५७ के पश्चात् अन्य देशी रियासतों के नायकों की भाँति, इनके भी सैनिक जीवन का अन्त हो गया। दूसरे शब्दों में इस अखाड़े के नायकों ने भी सैनिक जीवन को तिलांजलि देकर अपने वास्तविक उद्देश्य—आचार्य शंकर के वैदिक धर्म-प्रचार—के लिए धर्म के माध्यम से सामाजिक सेवा का व्रत ठाना। तब से आज तक इस अखाड़े के समस्त व्यक्ति अपने कार्य-क्षेत्र को धर्म-प्रचार, तीर्थाटन और देव-रक्षा तक ही सीमित रखे हुए हैं।

उत्तर मुगलकालीन भारत में इन नागे संन्यासियों ने अपने सैनिक कार्य में तो ख्याति पाई ही, साथ ही उन्होंने उस समय के वाणिज्य-व्यवसाय में भी अच्छा हाथ बँटाया था। उस समय इन्होंने प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में अपने मठ स्थापित किए जिनका कार्य-क्षेत्र व्यावसायिक था। उसी समय के स्थापित मठ आज भी पूना, मैसूर, हैदराबाद, उदयपुर, नागपुर, काशी. मिर्जापुर, मांडवी (कच्छ) आदि स्थानों में अच्छा कार्य कर रहे हैं। इन स्थान-धारियों को दंगली मठधारी कहते हैं।

इस अखाड़े के सैनिक अंग ने उस समय के गुजरात

के सोमगढ़, पालनपुर, अहमदाबाद, कच्छ तथा मारवाड़, उदयपुर, पंजाब आदि में राजाओं के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़कर देव और तीर्थ स्थानों की रक्षा की थी।

इस प्रकार इस अखाड़े के संन्यासियों ने राजनैतिक एवं व्यावसायिक दोनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आज भी यह अखाड़ा धर्म-प्रचार एवं समाज-सेवा का अच्छा कार्य कर रहा है। हरिद्वार के निकट इस अखाड़े द्वारा स्थापित एक विशाल गोशाला तथा प्रयाग में, दारागंज में इस अखाड़े द्वारा संचालित एक वृहत् संस्कृत निर्वाण-वेद-विद्यालय आदि संस्थाएँ इसके इन कार्यों के प्रमाण हैं।

अखाड़े का प्रबन्ध पंचायती आधार पर है। अखाड़े की प्रधान कार्यकारिणी में आठ महन्त तथा आठ कारबारी रहते हैं। इनका निर्वाचन हर छठे वर्ष कुम्भ या अर्द्ध कुम्भ के अवसर पर होता है। निर्वाचन में अखाड़े के समस्त साधु, जिनकी संख्या करीब दो हजार है, भाग लेते हैं। प्रधान कार्यकारिणी के ये सदस्य, साधुओं की एक मंडली के साथ, रहते हैं जिसे जमात कहते हैं। यह जमात वर्ष के आठ महीने देश में विचरण करती रहती है, केवल चातुर्मास में बड़ौदा या उदयपुर आदि स्थानों में रहती है जहाँ से उसे पूरी सहायता मिलती है। प्रधान कार्यकारिणी
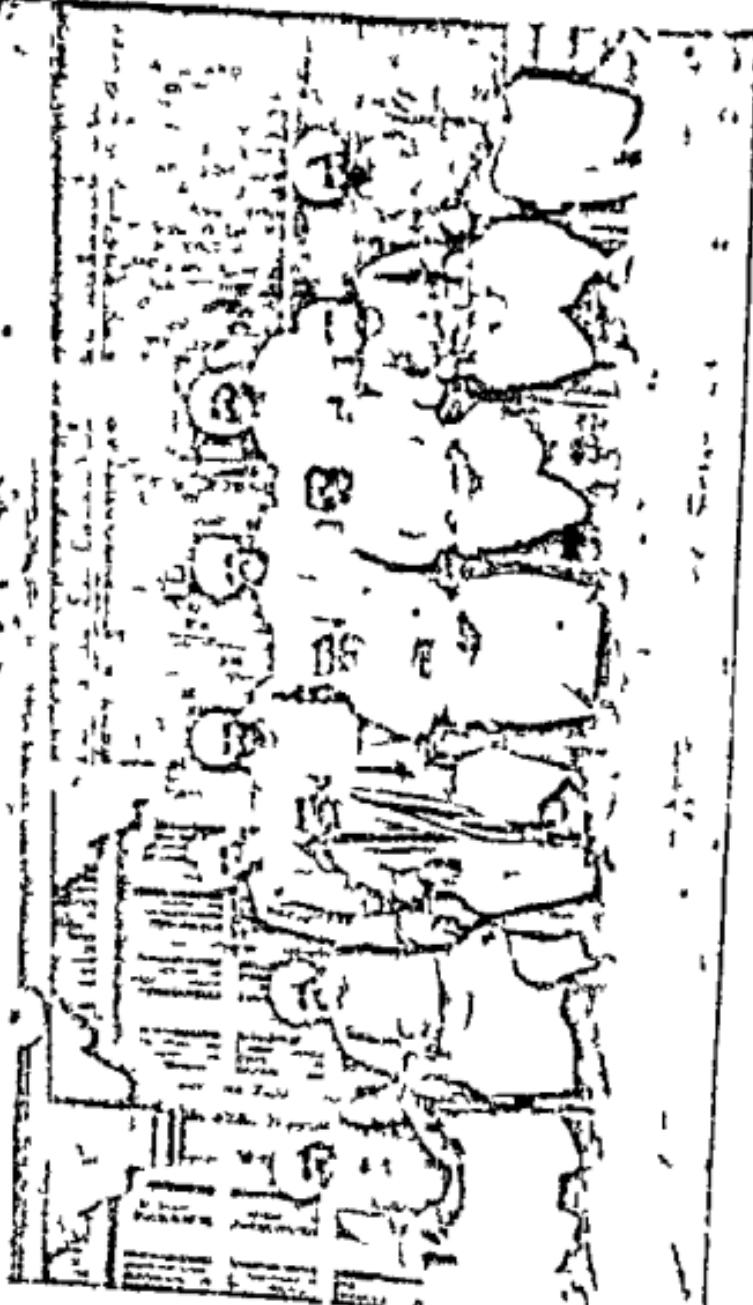
Members of the Present Executive Committee of Sri Alhara Mahanirvani.

को अखाड़े के प्रधान केन्द्र के तथा अन्य शाखाओं के अधिकारियों की नियुक्त तथा अपदस्थ करने का अधिकार है। अखाड़े की सम्पत्ति का प्रबन्ध करने आदि के लिए उसके केन्द्र तथा शाखाओं में थानापती तथा सेक्रेटरी होते हैं।

अखाड़े का प्रधान केन्द्र प्रयाग में है। उसकी शाखाएँ ओंकारेश्वर, नासिक, हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, उदयपुर, ज्वालामुखी, काशी व भर (अकोला) में हैं। इस अखाड़े के उपास्यदेव श्री कपिल महामुनि जी हैं।

१. इस अखाड़े के महन्त श्री तोता पुरी जी ने इस अखाड़े में ६ वर्ष महन्ती की। फिर अपने गुरुस्थान करनाल जिले में कैथल तहसील के अन्तर्गत गाँजा लदाना में बाबा राज पुरी के मठ में महन्त हो गए। २ वर्ष पश्चात् आप तीर्थयात्रा करने को निकले। तीर्थाटन करते-करते जगन्नाथ जाते हुए गंगासागर से कलकत्ता में आये। वहाँ दक्षिणेश्वर स्थित काली के मन्दिर में एक मनुष्य ध्यानावस्थित ताली बजाते हुए उनको मिला। उसके सर्वलक्षण देख कर परम योगी ब्रह्मनिष्ठ महन्त तोता पुरी जी ने विचार किया कि यह व्यक्ति सामान्य नहीं है। यह जगत् का उद्धार करनेवाला महान् पुरुष होगा। यह विचार करके उसको कहा—साकार उपास

करते, ताली बजाते पड़े हो! परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करके परम पद को प्राप्त करो। ये महान कीर्तनीय पुरुष स्वामी रामकृष्ण परमहंस थे। इन्होंने तोता पुरी जी का तेज पुंज चेहरा, शांति और ब्रह्म-तेज देख प्रणाम कर विनीत होकर—निद्रा से जागृत होकर जैसा मनुष्य बोलता है इस तरह—अपने सन्निकट उपस्थित परम योगी श्री तोता पुरी जी से कहा, आप कृपा करके उसका मार्ग बता कर मुझे दीक्षा दीजिये। तब उसको तोता पुरी जी ने योग का अधिकारी जान कर ब्रह्म उपदेश देकर संन्यास-दीक्षा दे दी। भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु पाश्चिमात्य अमेरिका, इँग-लैण्ड आदि देशों में श्री रामकृष्ण परमहंस की कीर्ति और ब्रह्मज्ञान की प्रशंसा कौन नहीं जानता है। ऐसे जगद्-विख्यात योगी परमहंस उनके शिष्य हजारों हुए। प्रधान शिष्य स्वामी विवेकानन्द जी थे। इन्होंने जो जगदुद्धार का कार्य किया, वह सर्वविदित है।

२. श्री १०८ श्री स्वामी अयोध्या पुरी जी इसी अखाड़े के नागे थे जो अपनी तपश्चर्या से गंगासागर में श्री कपिल महामुनि जी को प्रसन्न करके ब्रह्म का उपदेश देते, विचरण करते, हुए गया जिले में आये। वहाँ उन्होंने बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के मृत हाथी को

श्री महन्त बालक पुरी जी

श्री अखाड़ा पंचायती महानिर्वाणी इलाहाबाद के सेक्रेटरी

अपने योगसामर्थ्य से पुर्नजीवित करके खड़ा कर दिया। इसके बदले में नवाब ने स्वामीजी की कुछ सेवा करनी चाही। मंडरा गाँव जागीर देकर स्वामी जी से प्रार्थना की कि आप मेरे राज्य में सुखशान्तिपूर्वक निवास करो। इसको स्वामी जी ने स्वीकार किया। इसी मठ के उपमठ चुधोली, ब्रह्म सकपोरा विद्यमान हैं। इसी प्रकार इस अखाड़े के ब्रह्मनिष्ठ तपस्वी बहुत योगी हुए हैं।

३. इस अखाड़े के भूतपूर्व सेक्रेटरी प्रातः स्मरणीय श्री महन्त बालक पुरी जी तपश्चर्या, उपासना से पूर्ण होते हुए पर[illegible]तस्वी योगी हो गये। उनका प्रभाव प्रयाग निवासियों तथा दारागञ्ज के लोगों को विदित है।

४. काशी में दण्डीघाट पर इस अखाड़े के महन्त योगिराज श्री ऐतवार गिरि जी के नाम से विद्यमान् हैं। उनकी अवस्था १२० वर्ष की हो गई है। आप शान्त, वैराग्यशील, ब्रह्मनिष्ठ हैं।

५. इस अखाड़े के ऐसे संन्यासी तपोनिधि दिगम्बर फतेह पुरी जी महाराज ने जैसलमेर (मारवाड़) में सर्वत्र पानी का अभाव देख दयार्द्र होकर अपनी तपश्चर्या के प्रभाव से पहाड़ पर अपना चिमटा जोर से गाड़ कर परम पावनी भागीरथी गंगा का का प्रादुर्भाव करा दिया। वहाँ पर हमेशा वैशाख पूर्णिमा को मेला लगा

करता है । ये श्री गंगा जी महापुरुष की तपश्चर्या का प्रभाव प्रकट करती है जिसने आज जैसलमेर राज्य से पानी के संकट को दूर कर दिया ।

इसी प्रकार इस अखाड़े के कितने ही नागे तपस्वी सैकड़ों जगह विद्यमान हैं ।
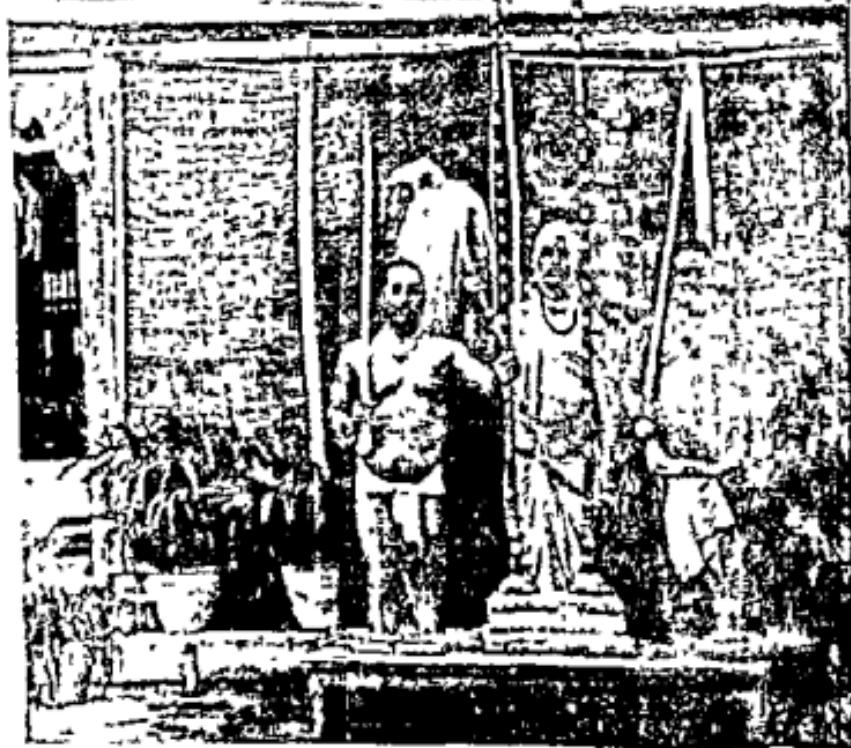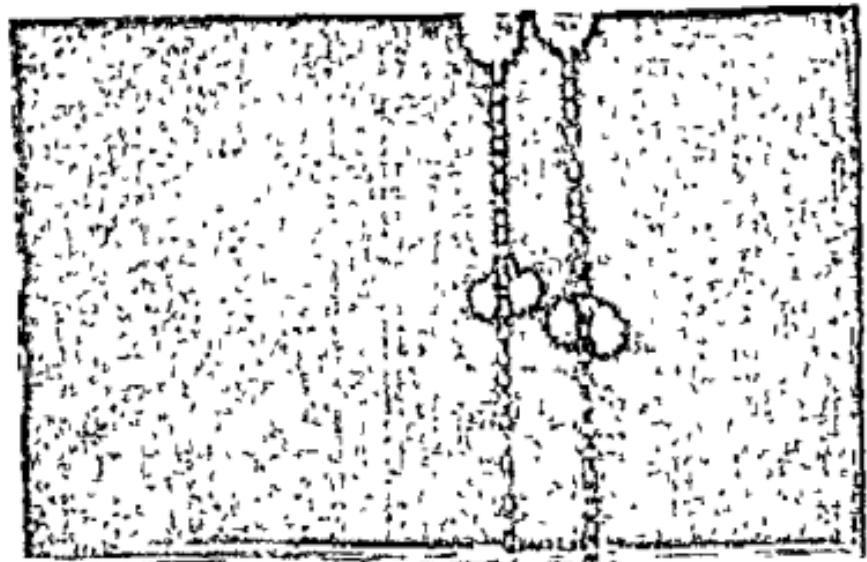
श्री अखाड़ा पंचायती महानिर्वाणी के इष्टदेव
सूर्य प्रकाश व भैरव प्रकाश भाले

प्रथम अध्याय

राजेन्द्र गिरि जी गोसाईं

(१७५१-१७५३ ई०)

अठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था। उसके अनेक टुकड़े हो गये थे। राज्य-दरबार में ईरानी और तुरानी दलों का बोलबाला था। इन्होंने अपने झगड़े-बखेड़ों से सारे देश में अशान्ति मचा रखी थी। तुरानी दल का नेता इन्तजामुद्दौला और ईरानी दल का अध्यक्ष सफ़दर जंग था।

अट्ठाईसवीं अप्रैल सन् १७४८ को सम्राट् अहमदशाह दिल्ली के राज्यसिंहासन पर आसीन हुआ। इसके तीन महीने बाद सम्राट् ने सफदर जंग को अपना विश्वासपात्र समझ वजीर (अमात्य) नियुक्त किया। वह अवध के नवाब सआदत खाँ बुरहानुलमुल्क का जामाता और राज्य के कई उच्च पदों पर रह चुका था। वह अवध के राज्यपाल (गवर्नर) तथा १७४४ से १७४६ तक मीर आतिश जैसे उच्च पदों को सुशोभित कर चुका था। सन्

१७४८ के प्रारम्भ में अहमदशाह अब्दाली के विरुद्ध युद्ध लड़ कर उसने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी। सम्राट् के वजीर होने पर सफदर जंग ने अपने दुरानी शत्रुओं—इन्तजाम और जुबेद—को परास्त कर फर्रुखाबाद के बंगश अफगानों से लड़ाई ठान दी। सन् १७५० के पूर्व में उसने उनके प्रदेशों को छीन लिया और अपने सहायक नवलराय के आधिपत्य में उन्हें सौंप दिया। इस धींगा-धींगी से बंगश अफगानों में विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। उन्होंने १३ अगस्त १७५० को राजा नवलराय को खुदागंज में परास्त कर मौत के घाट उतारा और फर्रुखाबाद के निकट रामचतउनी के युद्ध में वजीर को गहरी मात दी। इन विजयों से उन्मत्त होकर अफगान लोग अवध के नवाब अधिकृत प्रदेश में घुस पड़े। लखनऊ उनके हाथ में आ गया। चचेंड़ी के राजा हिन्दू सिंह चन्देल, अशोथर के रूपसिंह खीची, बनारस के बलवन्तसिंह और प्रतापगढ़ के पृथ्वीपत तथा आजमगढ़ के अकबर शाह ने बंगश नवाब का प्रभुत्व मान लिया। केवल इलाहाबाद सूबा इससे अलग रहा। उसे भी अहमद खाँ ने स्वयं वहाँ जाकर अपने आधिपत्य में कर लिया। वहाँ के उप-शासक अलीकुली खाँ को भाग कर फरवरी १७५१ में इलाहाबाद के किले में शरण लेनी पड़ी।

तीन पवित्र नदियों का यह संगम भयंकर युद्धस्थल बन गया।

अहमद खाँ ने इलाहाबाद से एक मील पूर्व पर स्थित झूँसी में डेरा डाला और राजहरबंग के टोले पर अपना दमदमा (तोपखाना) निर्मित कर किले पर गोलाबारी शुरू कर दी। प्रतापगढ़ का राजा पृथ्वीपत भी अहमद खाँ की सहायता के लिए अपने दलबल के साथ आ गया। अफगानों ने अपने तोपखाने और कुटिल तिकड़मों का अच्छा सहारा लिया। इलाहाबाद के खुले नगर में उन्होंने खूब लूटपाट की और लगभग चार हजार उच्च घरानों की महिलाओं का अपहरण कर उन्हें अपने अधीन कर लिया। अफगानों के इन अत्याचारों से सर्वत्र आतंक छा गया। इसका थोड़ा सा पता हमें १७५१ ई० के एक मराठा पत्र से चल जायगा। उसमें इस प्रकार लिखा है, "कई दिनों से नगर में अँधेरा रह रहा है, लगभग दस दिन से सारा नगर भयभीत है, काशी से पटना तक बैलगाड़ी का किराया अस्सी रुपये तक चढ़ गया है, कुलियों का कहीं पता नहीं। लोग नगर को छोड़ कर भाग रहे हैं।" (देखिये 'अवध के प्रथम दो नवाब,' पृष्ठ १७३) इस बीच शक्तिहीन सफदर जंग दिल्ली में ठहरा हुआ था। उसके पास न तो कोई शक्तिशाली सेना

थी और न उसे सम्राट् से ही किसी प्रकार की मदद का आशा थी। ऐसी स्थिति में प्रयाग के दुर्गरक्षकों का उससे सहायता की आशा करना व्यर्थ था। कुछ भी हो, प्रयाग के दुर्गरक्षकों के संगठित प्रतिरोध पर ही वजीर की शक्ति की पुनः प्राप्ति निर्भर थी। यही नहीं, भारतवर्ष का अफगानों के अत्याचारों से छुटकारा पाना भी इसी बात पर अवलम्बित था।

अहमदशाह अब्दाली के शक्ति में आने से अफगानों को एक नई शक्ति मिली। इस पर लोग बहुत कम विश्वास करते हैं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि रुहेलों और बंगश जाति को, जिसने अपनी शक्ति क्रमशः रुहेलखंड और फर्रुखाबाद में जमा रखी थी, इससे कुछ बढ़ावा अवश्य मिला। अतः ऐसी स्थिति में इलाहाबाद की समस्या का हल निश्चय ही विशेष महत्त्वपूर्ण था। इसके निर्णय से केवल दो विरोधी दलों की शक्ति का ही निर्णय नहीं था वरन् इस पर अफगान-सत्ता का पुनरुद्धार भी निर्भर था।

जैसी आशा की जाती थी उसके बिल्कुल विपरीत इलाहाबाद ने शत्रु के आगे घुटने नहीं टेके। फरवरी से लेकर अप्रैल तक शत्रुओं के सभी प्रयत्नों को उसने निष्फल कर दिया। इसका मुख्य कारण नागा साधुओं

का आगमन था। अनन्तकाल से प्रयाग हिन्दुओं का पवित्र तीर्थस्थान रहा है। यहाँ पर भारतवर्ष के विभिन्न भागों से धर्मानुरागियों का समागम हुआ करता था। ये लोग अपने शरीर को अनेक यातनायें देकर परमानन्द की प्राप्ति में सन्नद्ध होते थे। कुछ अपने मस्तक को आरों के बीच रखते, कुछ अपनी जीभ के दो टुकडे कर लेते और कुछ ऊँचे वृक्ष के ऊपर से नदी के अन्तस्तल पर कूद कर प्राणोत्सर्ग कर देते थे।

सन् १७५१ मे नागा संन्यासियों का ऐसा ही एक समूह (जिसकी संख्या सियार के अनुसार ५०,००० और इमाद के अनुसार ६००० थी) अपने धार्मिक कृत्यों की पूर्ति के लिये यहाँ एकत्रित हुआ। उनकी वेश-भूषा और आकृति विचित्र थी। वे अपने शरीर पर भस्म रमाते और सिर पर जटाएँ रखते थे। उनके बदन पर, कमर में पड़ी एक कौपीन के अतिरिक्त, और कुछ नहीं होता था। वे शस्त्र-विद्या मे निपुण थे। इनके नेता का नाम राजेन्द्र गिरि जी था। राजेन्द्र गिरि जी झाँसी से ३२ मील उत्तर पूर्व मे मोट नामक स्थान में कई वर्ष तक निवास कर चुके थे। वहाँ उन्होंने एक सौ चौदह ग्रामों पर अपना आधिपत्य जमा कर एक दुर्ग का निर्माण कराया था।

(देखिये झाँसी गजेटियर, पृष्ठ १७३)

उनकी इस बढ़ती हुई शक्ति को देखकर बुन्देलखंड के मराठों को चिन्ता हो गई। मराठा वकील नारो शंकर ने राजेन्द्र गिरि जी के ग्रामों को छीन कर उन्हें बाहर निकाल दिया, तब राजेन्द्र गिरि ने प्रयाग की ओर प्रस्थान किया। उन्होंने यहाँ आकर किले के निकट अपना शिविर स्थापित किया। अफगानों के नृशंस अत्याचारों को देख कर उनका हृदय क्रोध से दहल गया। वे इसे सहन न कर सके। अतएव बिना किसी स्वार्थ की भावना के उन्होंने दुर्गरक्षकों को अपनी सहायता देना स्वीकार कर लिया।

नागा संन्यासियों के इस हस्तक्षेप ने युद्ध को एक नई दिशा में मोड़ दिया। अपने प्राणों को हथेली पर रख कर खेलनेवाले इन साहसी धर्मनिष्ठ संन्यासियों को एक नया बल मिला। उनमें आत्म-रक्षा की प्रबल भावना उत्पन्न हो गई। ये नागा साधु अफगान शिविरों पर भीषण आक्रमण करते और नित्य कितने ही अफगानों को मौत के घाट उतारते। गुलाम हुसेन ने इनके आक्रमणों के विषय में लिखा है—"प्रत्येक दिन वे (राजेन्द्र गिरि) अपने अदम्य साथियों द्वारा श्रेष्ठ अश्वों पर सवार होकर अफगान शिविरों पर धावा बोलते थे और वहाँ से अपने प्रबल शत्रुओं का वध किये बिना वापस न आते थे। अपने

साथ उनके अस्त्रों और शस्त्रों को छीन लाते थे। कोई भी दिन ऐसा नहीं गया जिस दिन उन्होंने अपने शत्रुओं का वध न किया हो।"

इस प्रकार के उत्साही वीरों की बहादुरी से दुर्ग-रक्षकों में एक नई स्फूर्ति आ गई। उधर अहमद खाँ ने भी अपनी नीति और युद्ध-विन्यास को एक नई दिशा में मोड़ दिया। उसने किले के सैनिकों को भूखों मार कर आत्म-समर्पण कराने की चाल चली। किले से आध मील दक्षिण पूर्व पर, यमुना नदी के दाहिने किनारे पर, अरैल नाम का एक छोटा सा कस्बा है। किले के नावों के पुल के द्वारा यहाँ से सैनिकों के लिये खाद्य सामग्री भेजी जाती थी।

इस महत्त्वपूर्ण मोर्चे का अधिनायक बकुल गिरि था। नित्य प्रातः और सन्ध्या के समय वह अपने सैनिकों सहित पुल पार करके सैनिकों, दुर्गरक्षकों को खाद्य एवं अन्य आवश्यक सामग्री प्रदान कर प्रसन्न रखता था। अफगानों ने इस स्थान को शत्रु पर आक्रमण करने के लिए ठीक समझा। इस मोर्चे की अधिनायकता अहमद खाँ के पुत्र महमूद खाँ और राजा पृथ्वीपत को सौंपी गई। जब किले के सैनिकों को इस बात का पता चला, वे बहुत घबड़ा गए। सारे दुर्ग में आतंक छा गया।

इस प्रकार के दुहरे, एक भूसी तथा दूसरा अरैल से, होने वाले आक्रमणों से सैनिक भयभीत हो गए। इस भयानक संकट का सामना करने के लिए एक परिषद आमंत्रित की गई। सब सरदारों में इस पर विचार-विनिमय हुआ। इस बात का कहीं उल्लेख नहीं है कि इस सम्मेलन में गोसाईं जी भी उपस्थित थे अथवा नहीं। परन्तु इतना अवश्य है कि इस संकट का सामना करने में गोसाईंजी ने अपने अद्भुत पराक्रम और कौशल का प्रदर्शन किया।

इन लोगों ने भी शत्रुओं पर आक्रमण करने की एक अच्छी योजना बनाई। बकुल गिरि ने अपने सैन्यबल के साथ अरैल को प्रस्थान किया। उधर दूसरी ओर से गोसाईंजी ने शत्रुओं पर धावा बोल दिया। अरैल में खून की नदियाँ बह चलीं। अफगान लोग अपने स्थान पर जमे रहे परन्तु बकुल युद्धक्षेत्र में न टिक सका। वह अपने साथियों के साथ पुल पर से भाग निकला और बाद में पुल को तोड़ दिया। अब अहमद खाँ चक्कर में पड़ गया। इधर से आक्रमण करने का रास्ता बन्द हो गया। अहमद खाँ ने भूसी की तरफ से फिर हमला करके अपनी सफलता कायम नहीं रखी। उधर गोसाईंजी ने गंगाजी के किनारे पर उनका डट कर सामना किया।

इस बीच वजीर ने अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त कर

लिया और फर्रुखाबाद की ओर चल पड़ा। इधर जब अफगानों को यह पता चला तो उन्होंने अपना मोर्चा हटा लिया। अहमद खाँ भी अपने प्रदेशों की रक्षा के लिए झपटा। वे किराए के टट्टू सैनिक, जिन्होंने लूट और धन बटोरने की लालच से अहमद खाँ का साथ दिया था, अब तितर-बितर हो गए। अहमद खाँ की स्थिति बदल गई। वह राजा से रंक बन गया। विजेता से भगोड़ा बन गया। इस प्रकार का परिवर्तन दुर्गरक्षकों के भीषण प्रतिरोध के ही कारण था, जिनको कि नागाओं से शक्ति और स्फूर्ति मिली थी। इस घटना के बाद ही गोसाईंजी की गणना वजीर की सेना में होने लगी। गोसाईंजी के सैनिक भी इसी के अन्तर्गत गिने जाने लगे और उत्तरी भारत की राजनीति में नागाओं का प्रमुख स्थान हो गया।

अप्रैल से लेकर जून तक अहमद खाँ वजीर से भली भाँति मोर्चा लिया। रुहेलों ने भी बहादुरी से सामना किया परन्तु उनके सरदारों को भागकर कुमायूँ की तराइयों में शरण लेनी पड़ी। मुरादाबाद जिले के काशीपुर से २२ मील उत्तर पूर्व पर चिल्किया नाम का एक स्थान है। यह स्थान किलेबन्दी और रक्षा की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण था। वह तीन ओर से जंगलों से घिरा हुआ था, जिस तरफ से शत्रुओं के आक्रमण का उसे कोई

मय नहीं था। पहाड़ी के निकट एक छोटा सा नाला था जिससे उसे प्रचुर मात्रा में पानी प्राप्त हो जाता था। अफ़गानों ने इसी को अपना अड्डा बनाया। पास में उत्पन्न होनेवाले गन्नों से कुछ दिनों तक ये अपनी भूख-प्यास बुझाते रहे। बाद में उन्हें कुमायूं के राजा से अच्छी खाद्य-सामग्री प्राप्त हो गई।

इधर वज़ीर भी सदल-बल उनका पीछा करता हुआ आ पहुँचा। इस संकट का सामना करने के लिए अफ़गान भली भाँति संगठित हो गए। अपने सहयोग और संगठित प्रयत्नों से उन्होंने अपने खुले हुए भाग की रक्षा का अच्छा प्रबन्ध कर लिया। उस भाग को एक नकली खाई और मिट्टी की दीवाल द्वारा सुरक्षित कर दिया। वह मिट्टी की दीवाल का निर्माण इतने सुचारु ढंग से किया गया था कि एक अफ़गानी इतिहासज्ञ ने उसकी तुलना दक्षिण में दौलताबाद के विशाल और सुदृढ़ दुर्ग से की। (जे० ए० एस० बी० १८७९ पृष्ठ १०७)

अब लखनऊ तथा प्रयाग, शृंगीरामपुर तथा फतेहगढ़ से मोर्चा उठकर कुमायूं श्रेणियों की उपत्यका में आ गया। लगभग आठ सप्ताह तक युद्ध एक तोपखाने और हाथापाई तक ही सीमित रहा। वज़ीर की सेना की संख्या और शक्ति दोनों ही अपने शत्रुओं से अधिक थी परन्तु

गोलन्दाजों में योग्यता और सावधानी के अभाव के कारण निशाना ठीक नहीं लगता था। इसी बीच अब्दाली के लाहौर के आक्रमण ने राजधानी में वज़ीर की उपस्थिति अनिवार्य कर दी। बिना युद्ध समाप्त किए उसका जाना सम्भव नहीं था। अतः उसने मराठा सरदारों को, इस विषय पर विचार विनिमय करने के लिए, आमंत्रित किया। जयप्पा सिन्धिया, मल्हार राव आदि मराठा सरदार आए। जयप्पा सिन्धिया मराठों की राज्य-विस्तारवादी नीति का पोषक था। वह उत्तर भारत के अपने शत्रुओं को झगड़े में फँसाए रखकर अपनी शक्ति बढ़ाने के पक्ष में था। उसने वज़ीर को खुल्लमखुल्ला लड़ने की नीति को—यह कहकर कि हम लोग खुले स्थानों में लड़ने के अभ्यस्त हैं, हम लोगों को दुर्ग में हो या छोटे से घेरे में लड़ने का अभ्यास नहीं है—अस्वीकृत कर दिया। देखिए (जे० ए० एस० बी० इबिद पृष्ठ १०७)

ऐसे संकटकाल में मराठों के ऐसे व्यवहार से गोसाईं जी को बहुत बुरा लगा। उन्होंने सिन्धिया से कहा कि शत्रुओं की सेना तो खुले क्षेत्र में ही है, केवल पानी की ही रुकावट है। परन्तु वह भी अफगान शिविरों के पश्चिमी और पूर्वी भागों में किसी प्रकार बाधा नहीं डालती। उस ओर से आसानी से आक्रमण किया जा सकता है। गोसाईं

जी की इस बात को सिन्धिया न सह सका और क्रोधावेश में आकर गोसाईंजी पर भी—यह कहते हुए कि आप भी तो वजीर की नौकरी में हैं, आप क्यों नहीं आक्रमण करते—व्यंग कसा। गोसाईंजी को बात लग गई और उन्होंने प्रसन्नता से युद्ध करने का बीड़ा उठा लिया।

रात्रि में गोसाईं जी ने आक्रमण करने की योजना बनाई। नजीब खाँ की अधिनायकता में जो सेना थी उसको वजीर खिलवाड़ में लगाने को था और दूसरी ओर से गोसाईंजी अहमद खॉ की सेना पर आक्रमण करने को थे। दूसरे दिन प्रातःकाल गोसाईंजी के पन्द्रह सहस्र नागे सैनिकों ने नवाब के सामने प्रदर्शन किया और वे अफ़गानों के डेरों की ओर रवाना हुए। ये सैनिक आगे चल कर आक्रमण करने के मुख्य स्थल से थोड़ी दूर पर रुक गए और धावा बोलने के उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। इसकी विपरीत दिशा से आक्रमण करने के लिए दूसरा दल रवाना हुआ। इस दल का अध्यक्ष स्वयं वजीर था। रणक्षेत्र में वजीर के पहुँचने से अफ़गानों और रुहेलों की सेना में तहलका मच गया। मुल्ला सरदार खॉ, दुन्दू खॉ, रहमत खाँ और अहमद खॉ के पास दूत भेजे गए जिससे कि वजीर के विरुद्धवाले मोर्चे पर और सैनिक आ जायँ। गोसाईंजी के प्रयत्नों का उचित

परिणाम निकलनेवाला था परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका। अहमद खाँ ने अपनी ओर सैनिक कम करने से इन्कार कर दिया और रुहेलों को उनके ही मोर्चे पर भेज दिया।

अहमद खाँ के इस अप्रत्याशित आचरण का, उसके इस उत्तर का, एक कारण था। वह यह कि वजीर की सेना के कुछ आदमियों ने विश्वासघात कर दिया था। इस काम में बहुत कुछ हाथ मराठों का था। मराठों ने वजीर को अफगानों पर विजय प्राप्त करने में अच्छी सहायता दी थी। किन्तु अब मराठे अफगानों के विरुद्ध लड़ना नहीं चाहते थे। वे अफगानों को वजीर की प्रगति में रोड़ों के रूप में डालकर अपना मतलब सीधा करना चाहते थे। आँवला के युद्ध के बाद जब अहमद खाँ इधर-उधर मारा-मारा फिरता था तब जयप्पा सिन्धिया ने उसे पहाड़ियों में शरण लेने के लिए कहा था। और इधर चिल्किया के भी युद्ध में जब उसने मुँह की खाई, तो सिन्धिया ने उसे गुप्त रूप से गोसाईंजी की योजना से अवगत करा दिया। इन सब बातों से कुछ अंशों में परिचित होते हुए भी अदूरदर्शी सफदर जंग ने कुछ कार्रवाई नहीं की और अपने पैरों में आप ही कुल्हाड़ी मार ली।

इधर गोसाईंजी अफगानों की गति-विधि को देख

रहे थे। अफगान भी, अपनी तोपों के साथ, सामना करने के लिए तैयार खड़े थे। ऐसी स्थिति में आक्रमण करना जान बूझ कर मौत के मुँह में जाना था, किन्तु संन्यासियों में आत्मसम्मान की भावना इतनी प्रबल थी कि उन्हें इस प्रकार की किसी बाधा की कुछ भी चिन्ता नहीं थी। अतः उनको युद्ध करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

दिवस का अवसान था, भगवान् भास्कर अस्ताचल की ओर अग्रसर हो रहे थे, इसी समय नागा संन्यासियों का विशाल दल अफगान शिविरों की ओर बढ़ा। उस समय राजेन्द्र गिरि जी, जिन्होंने अभी तक इनका नेतृत्व किया था, इसके अध्यक्ष नहीं थे। उनके स्थान पर उनका एक शिष्य, जिसकी गणना उनके बाद ही की जाती थी, इस दल का नेतृत्व कर रहा था। जैसे ही ये लोग तोपखाने (दमदमे) के निकट पहुँचे, नवाब ने युद्ध का डंका बजवा दिया और उसकी सेना मोर्चे पर आ डटी। इस संकट के समय अहमद खाँ ने उसी अस्त्र का सहारा लिया जिसे प्रायः मुसलमानों ने आपत्ति के समय अपनाया है और जिसे वे अभी तक प्रयुक्त करते रहे हैं। अहमद खाँ ने सैनिकों को ईश्वर की प्रार्थना करने का आदेश दिया ताकि वह इस समय उनकी सहायता और रक्षा करें। उन्होंने फातिहा का पाठ किया और अल्लाह की ध्वनि

से सारे आकाश को गुँजा दिया। उनमें नई स्फूर्ति आ गई। आग के सहारे अफगान आगे बढ़े और अपने मोर्चे पर जम गए। एक घंटे तक तोपें चलीं। इसके बाद अफगान सैनिक हथगोलों के साथ नंगी तलवारें लिये हुए शत्रुओं पर टूट पड़े। उनमें मरने और मारने की प्रबल भावना जागृत हो गई थी। उन्होंने अपने शत्रुओं की हिम्मत पस्त कर दी, उनके छक्के छुड़ा दिये। गोसाईंजी की सेना तितर-बितर हो गई। हमें इस बात का ठीक पता नहीं कि उनके दल को नष्ट करने, तितर-बितर करने, में किसी प्रकार के विश्वासघातियों का हाथ था अथवा नहीं।

जब उस दिन के गोसाईं सेनाध्यक्ष ने अपने सैनिकों को भागते हुए देखा तो उन्होंने उनको युद्धस्थल में लौट आने की आवाज दी। वे अब भी सवारी पर आसीन थे और उनकी पताकायें अब भी फहरा रही थीं। अपने दल को उत्साहित और संगठित करने की दृष्टि से वे अपनी सवारी से उतर पड़े और पैदल सिपाहियों में जा मिले। उन्हें मृत्यु से जरा भी भय नहीं था। ईश्वरार्चन, देवोपासना तथा अपनी कठिन तपस्या के कारण उनको ईश्वर पर पूर्ण विश्वास था। उनमें ईश्वर के इस पवित्र कार्य की पूर्ति के लिए आत्मबलिदान की प्रबल भावना दौड़ गई। इस आपत्तिकाल और विषम परिस्थिति में उन्होंने बड़ी

शान्ति और धैर्य से काम लिया और अपने थोड़े से ही साथियों के साथ शत्रुओं के भीषण आक्रमण का सामना किया। शत्रु उन पर बुरी तरह से प्रहार कर रहे थे।

इस समय संध्या देवी अपना आँचल पसार रही थीं, भगवान् भास्कर अपनी यात्रा समाप्त कर रहे थे। पश्चिमीय क्षितिज पर लालिमा छिटक रही थी। इस युद्ध में संन्यासी अपने नेता को अकेला छोड़ कर भाग गए थे और कुछ को काल ने कवलित कर लिया था, वह वीर संन्यासी अध्यक्ष अब रणभूमि में अकेला रह गया था। उन्होंने एक अफगान सैनिक को, जो उनकी ओर बढ़ रहा था, ललकारा। उन्होंने उसका बहादुरी से सामना किया और लड़ते लड़ते गिर पड़े। सूर्य की अन्तिम किरण इस संन्यासी सेनाध्यक्ष के अन्तिम रक्त से मिल गई। ये संन्यासी नेता, जिनके नाम का पता नहीं है, वीरगति को प्राप्त हुए। अफगानों की विजय-वैजयन्ती फहराने लगी। इस बलिदान का मार्मिक वर्णन बंगश इतिहास में मिलता है। यह वर्णन बड़ा हृदयविदारक है जिसके पढ़ने से स्पेन्सर की रेडक्रास नाइट शीर्षक कविता की पंक्तियों का स्मरण हो आता है। उस कविता का सारांश इस प्रकार है—वह युद्ध-स्थल में बहादुरी के साथ प्रसन्न मुद्रा में निद्रा देवी की चिर गोद में पड़ा हुआ था। उसके हृदय में तीर लगा हुआ

था। वह अपने बात-व्यवहार में सच्चा, विश्वासी और कर्तव्यनिष्ठ था। उसे मृत्यु से किंचित् भी भय नहीं था। (फेयरी क्वीन बुक १)

चिल्किया की इस पराजय ने अफगानों और वजीर के बीच नए सम्बन्धों को जन्म दिया। अपने आन्तरिक झगड़ों और अपने सहयोगियों में विश्वास के अभाव के कारण सफदर जंग ने शीघ्र ही अफगानों से सन्धि कर ली।

विषम परिस्थितियों ने वजीर को राजधानी में आने को बाध्य किया। अहमद शाह ने लाहौर को जीत लिया था, इससे देहली में आतंक छाया हुआ था। सम्राट् के आग्रह पर वजीर, अपने ५०००० मराठों के साथ, दिल्ली को रवाना हुआ। २५ अप्रेल को वह यमुना के किनारे पहुँचा। दिल्ली यमुना के दूसरे किनारे पर थी। दुरानी दल के नेता जवेद खाँ और वजीर में पहले से ही वैमनस्य था। दिल्ली के निकट आ जाने पर जवेद खाँ ने मराठों के वेतन-संबंधी प्रश्न को उठा कर वजीर से संघर्ष ठान लिया। जवेद ने वजीर को परास्त करने के लिए कई चालें चलीं। वजीर ने इस बीच दो बार यमुना नदी को पार कर राजप्रासाद में प्रवेश कर अपनी शक्ति का परिचय दे दिया था। इस प्रदर्शन में राजेन्द्र गिरि जी तथा लुत्फयार खाँ आदि सेनापति उपस्थित थे।

मोठनिवासी इस नागा संन्यासी का नक्षत्र दिन पर दिन प्रखर होता जा रहा था, उसकी शक्ति बढ़ रही थी। परिस्थितियों और उनके भाग्य ने पलटा खाया और भस्म रमानेवाले, मोठनिवासी इस संन्यासी ने मुगल सम्राट् के विशाल विभवयुक्त राजदरबार तक पहुँच कर अपनी प्रतिभा दिखलाई।

इधर वजीर और जवेद खाँ में संघर्षों के नए कारणों का बीजारोपण हुआ। वजीर को नीचा दिखाने की दृष्टि से जवेद खाँ ने दिल्ली के निकट सिकन्दराबाद में लूटपाट करना शुरू कर दिया। दिल्ली के दक्खिन ३२ मील पर बुल्लू जाट को लूटपाट करने के लिए उकसाया। यह बड़ा साहसी और बहादुर जाट था। इस बहादुर जाट के विरुद्ध लड़ने का कार्य गोसाईं को सौंपा गया। गोसाईंजी की युद्धकुशलता और उनके अदम्य साहस की खबरें दूर दूर तक पहुँच गई थीं। जब बुल्लू ने सुना कि गोसाईंजी आ रहे हैं, वह डर कर भाग गया और बल्लभगढ़ पहुँच कर उसने अपने प्राण बचाए। गोसाईंजी ने वहाँ शान्ति की स्थापना की। इसके बाद १७५२ के नवम्बर में गोसाईंजी सहारनपुर में फौजदार के पद पर नियुक्त किए गए। यह एक उच्च पद था। इस पद पर सम्राट् के मामा मुतकादुद्दौला तथा उसके बाद उनका

छोटा लड़का आतिफ़ाद रह चुका था। यहाँ पर अफ़गानों के कई कुलीन घराने बसे हुए थे। इनमें से गूजर, सैयद, बरहा आदि प्रमुख थे। उनकी अलग अलग जागीरें थीं और सम्राट् की ओर से इन्हें अनेक सुविधाएँ प्राप्त थीं। ये हमेशा एक न एक अड़ंगा लगाए रहते थे और इनके हृदय में स्थानीय फ़ौजदार के प्रति कुछ भी श्रद्धा नहीं रहती थी। गोसाईंजी ने इन सबको दबा दिया और बिना किसी को विशेष सुविधाएँ दिए हुए उन्होंने लगान की दर निश्चित कर दी और अराजकता का दमन कर शान्ति की स्थापना की। तारीख-ए-अहमदशाही से यह बात और स्पष्ट हो जाएगी। उसमें लिखा है, बरहा के गूजर और सैयद तथा अफ़गान—जिन्होंने आज तक किसी फ़ौजदार को आदर की दृष्टि से नहीं देखा था—पतन के गर्त में पूरी तरह से गिर चुके हैं। उनका सर्वनाश हो गया। गोसाईंजी वहाँ मुश्किल से आठ महीने रह पाए थे कि उन्हें दिल्ली वापस जाना पड़ा।

सितम्बर १७५२ में वजीर ने अपने शत्रु जवेद की हत्या करके शासन और राजप्रासाद में अपना पूरा सिक्का जमा लिया था। परन्तु उसकी स्वार्थपूर्ण और अदूरदर्शी नीति से उसके विद्रोहियों को बल मिल रहा था। इन्हीं कारणों से बाद में उसे अपने पद से हाथ धोना पड़ा।

सेना आदि के कारण उस समय उसका व्यय बहुत बढ़ा हुआ था और उधर सरकार दिनोंदिन दिवालिया हो रही थी। उधर उसके सिपाहियों का वेतन भी बाकी पड़ा हुआ था और वे इसके लिए विद्रोह करने को तत्पर थे।

वजीर ने इस समय एक चाल चल कर अपनी शक्ति प्राप्त करने की कोशिश की परन्तु वह असफल रहा। उसने सम्राट् को आकर्षित करने का तथा उनको धमकाने का एक उपाय निकाला। वजीर ने अपना दल बल लेकर राजधानी से कूच करने का विचार सम्राट् के सामने प्रकट किया। सम्राट् इस समय कुछ दूसरे लोगों के प्रभाव में था। अपने सलाहकारों की सलाह से उसने वजीर के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। वजीर ने दिल्ली छोड़ने में देरदार की और वह कुछ टालमटूल करना चाहता था परन्तु सम्राट् ने उसको शीघ्र ही कुली भेजे, जिनके द्वारा वह अपना सामान ढुलवा कर जल्दी से जल्दी दिल्ली छोड़ दे। अन्त में उसे २६ मार्च को दिल्ली से विदा होना ही पड़ा। आठ-नौ दिन तक वजीर इस आशा में दिल्ली के आस पास चक्कर लगाता रहा कि सम्राट् पुनः आमंत्रित करे, वह बुला लिया जाय किन्तु उसे इस प्रकार का कोई बुलावा नहीं मिला। तब उसने दूसरे उपायों का सहारा लिया और सैनिक प्रदर्शन द्वारा सम्राट् को झुकाना चाहा। उसने

गोसाईंजी को, जो कि उसके दाहिने हाथ थे, सहायता के लिए सहारनपुर से निमंत्रित किया। (मध्य एप्रिल सन् १७५३) वजीर के इच्छानुसार गोसाईंजी ने यमुना नदी-निकटवर्ती ग्रामों में लूट-पाट शुरू कर दी। (२२ एप्रिल से ४ मई) इसके बाद उन्होंने भूतपूर्व मीर बख्शी सलावत जंग को घेर कर उस पर आक्रमण कर दिया। सम्राट् के एक राजदूत के सामने ही उसे पकड़ कर वे वजीर के शिविर में ले गए। फिर उन्होंने बरापुला पर धावा बोल दिया। इधर दूसरा सरदार इसमाइल खाँ नागली को घेरे हुए था। राजधानी में आतंक छा गया। इस प्रकार के हिंसक कार्य न करने के लिए सम्राट् ने स्वयं अपने हाथों से वजीर को एक पत्र लिखा। अपने मिथ्या गर्व में चूर होकर वजीर ने सम्राट् को गर्वीला उत्तर दिया और उसमें इन्तजाम तथा इमाद को पदच्युत करने के लिए आग्रह किया। इतना ही नहीं, राजमहल के दुर्ग पर आक्रमण करके उसने अपना असन्तोष व्यक्त किया। इस तिरस्कार और अवज्ञा के कार्य को सम्राट् कब सहन करनेवाला था। वजीर के दर्प का दमन करने लिए सम्राट् ने सेना की सहायता ली। उसने महल के नीचे ही शिविर स्थापित करने की आज्ञा दी। तोपखाने की मोर्चेबन्दी का निरीक्षण उसने स्वयं किया।

इस युद्ध के प्रारम्भिक काल में वजीर आक्रामक के रूप में रहा। वह बराबर सम्राट् की सेना पर आक्रमण करता रहा। कोई भी दिन ऐसा नहीं गया जिस दिन सैनिकों ने नगर के किसी न किसी भाग को न लूटा हो और लोगों को हानि न पहुँचाई हो। ९ मई को गोसाईंजी ने मांडवी बाजार पर छापा मारा। जाट लोग सई द्वारा बीजल मस्जिद आदि निकटवर्ती क्षेत्रों को लूटते रहे। इसी समय प्रथम बार गोसाईंजी और शाही सेना में संघर्ष हुआ। जब जाट लोग आक्रमण के लिए शिविर से बाहर गए हुए थे, शाही सेना ने वजीर की सेना पर आक्रमण किया और गोसाईंजी को पछाड़ दिया। इस पर जाटों का खून खौल उठा और उन्होंने भीषण कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। १३ मई को सम्राट् ने वजीर को पूर्ण रूप से अपना अमात्य घोषित किया। इस पर वजीर की सम्राट् के प्रति रही-सही सहानुभूति भी समाप्त हो गई और तनातनी ने और जोर पकड़ा। इस घटना के चार दिन पश्चात् तीन मील दक्षिण पर स्थित कोटला फिरोज शाह नामक स्थान पर अधिकार करके उसने सम्राट् को गहरी मात दी। अठारह दिन पश्चात् इस्माइल बेग को इस स्थान से हट जाना पड़ा। इस स्थल के किले पर आसानी से गोलाबारी की जा सकती थी। भूतपूर्व

वजीर को इससे बहुत धक्का लगा परन्तु उसने ईदगाह और अजमेरी दरवाजे पर हमला करके फिर अपनी शक्ति जमाने की चेष्टा की। यहाँ पर ११,१२ और १४ जून तक लड़ाई छिड़ी रही। अन्तिम दिन वजीर भी अपनी सेना को उत्साहित करने के लिए उपस्थित था। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। हजारों की संख्या में सैनिक मौत के घाट उतरे। मीर बख्शी इमादुलमुल्क ने अपने अदम्य साहस का परिचय दिया। इसी दिन राजेन्द्र गिरि, जो कालका पहाड़ी की तरफ बहादुरी से लड़ रहे थे, वीर-गति को प्राप्त हुए। इमाद के अनुसार इस्माइल खाँ ने और गुलिस्ताँ के अनुसार नजीब खाँ ने किसी आदमी को कुछ रुपये देकर गोसाईंजी का प्राणान्त करवा दिया। अतः १५ जून १७५३ को राजेन्द्र गिरिजो इस संसार को सदा के लिए छोड़कर परलोक सिधारे।

गोसाईंजी की मृत्यु ने युद्ध की गति-विधि को मोड़ दिया और भूतपूर्व वजीर सफदर जंग की विजय की आशा धूल में मिल गई। गोसाईंजी की मृत्यु से उनके सैनिकों को ही, जिनका अब कोई नेता नहीं था, काफी चोट नहीं पहुँची वरन् वजीर की सेना को भी काफी धक्का लगा। तारीख-ए-अहमदशाही में लिखा है कि, गोसाईंजी के परलोकवास के पश्चात् सफदर जंग स्वयं कभी

किसी युद्ध में नहीं गया। इतना ही नहीं, वजीर के पक्ष में लड़नेवालों में किसी को भी लड़ने के लिए उत्साह या उत्सुकता नहीं रह गई। कहना न होगा कि अपने विश्वासी, कर्तव्यपरायण सेनापति की क्षति से वजीर को बड़ा क्षोभ हुआ। वह कई दिन तक शोक में डूबा रहा। बाद में जब उसका शोक कुछ कम हुआ तो उसने देखा कि शत्रुओं की शक्ति काफी बढ़ गई है और उन्होंने हमें काफी पीछे खदेड़ दिया है।

इस विषय की हमारे पास अधिक सामग्री नहीं है किन्तु जो कुछ प्राप्य है उससे गोसाईंजी की सैनिक स्थिति का पूरा-पूरा पता चलना असम्भव है परन्तु इतनी बात तो स्पष्ट है कि वे सफदर जंग के मुख्य सहायक थे—उसके दाहिने हाथ थे। वे वजीर की सेना के प्राण थे जिनसे वजीर की समस्त सैनिक योजनाओं को प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्राप्त होती थी। सियारुल मुताखरीन ने गोसाईंजी को बड़े सम्मान से श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। उसमें इस प्रकार का वर्णन है—'गोसाईंजी के पास केवल इने-गिने बहादुर साथी थे परन्तु वे सब के सब गोसाईंजी के समान दृढ़प्रतिज्ञ और वज्र के समान कठोर थे। यही कारण था कि गोसाईंजी अपने सब साथियों के साथ बड़े से बड़े युद्ध में बहादुरी से लड़ते और बिना किसी प्रकार

की चति के वे सकुशल वापस आ जाते थे। उनकी शक्ति का आतंक लोगों में यहाँ तक फैल गया था कि लोगों को यह आशंका हो गई थी और आशंका ही नहीं, लोगों के मस्तिष्क में यह बात जम गई थी कि गोसाईंजी कुछ मंत्र-तंत्र जादू-टोना जानते हैं। इससे लोग और भी भयभीत रहते थे। इस प्रकार के अदम्य साहस और अद्वितीय वीरता से गोसाईंजी ने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी। सफदरजंग भी गोसाईंजी का यथेष्ट सम्मान करता था। गोसाईंजी जब कहीं सवार होकर जाते, अपने साथ नगाड़े बजवाते थे। वे वजीर को झुक कर प्रणाम इत्यादि नहीं करते थे। इन बातों का अधिकार देकर वजीर ने गोसाईंजी के प्रति अपनी श्रद्धा और आदर का परिचय दिया था। इस प्रकार का सम्मान मुगल वंश के किसी उच्च पदाधिकारी को ही प्राप्त होता था, सर्व साधारण को नहीं। गोसाईंजी की इस प्रकार की प्रतिष्ठा कितने ही लोगों की आँखों में खटकने लगी, कितने ही लोग उनसे ईर्ष्या करने लगे। यदि हम इमादुस्सआदत का विश्वास कर लें तो हमें यह कहने में जरा भी संकोच न होगा कि इस्माइल खाँ की ईर्ष्या के कारण ही गोसाईंजी को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

गोसाईंजी एक महान् सेनाध्यक्ष थे, यह तो ठीक से

नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना अवश्य है कि वे वजीर की सेना के सर्वोच्च अधिकारियों में से एक थे। यह सत्य है कि उनको तोपों द्वारा युद्ध करने का कोई विशेष ज्ञान नहीं था, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे एक बड़े संन्यासी योद्धा थे। वे मृत्यु से ज़रा भी नहीं डरते थे। वे जीवन को सौन्दर्य नहीं बल्कि कर्तव्य मानते थे। कर्तव्य-परायणता ही उनके लिए सर्वश्रेष्ठ वस्तु थी। सच्चे हृदय से कर्तव्य का पालन करना ही उनका धर्म था। कर्तव्य से बड़ी वस्तु उनके लिए और कुछ न थी।

महन्त काञ्चन गिरि—चेला अनूप गिरि—नागे लोगों के साथ

द्वितीय अध्याय

अनूप गिरि जी—उपनाम हिम्मत बहादुर

अनूप गिरि तथा उमराव गिरि, राजेन्द्र गिरि जी के दो प्रधान शिष्य थे। ये दोनों सहोदर भ्राता थे। उमराव गिरि तथा अनूप गिरि का जन्म क्रमशः सन् १७३० और सन् १७३४ में हुआ था। उमराव गिरि ने विद्योपार्जन में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली और अनूप गिरि ने शस्त्र-विद्या में अच्छा ज्ञान प्राप्त कर युद्धविन्यास में बड़ा नाम पैदा किया। अनूप गिरि की बहादुरी से प्रभावित होकर शिया ने इन्हें हिम्मत बहादुर की उपाधि प्रदान की। राजेन्द्र गिरि जी की मृत्यु के पश्चात् नागा सैन्य-संचालन की बागडोर उमराव गिरि जी के हाथ में आ गई। वे नागाओं की सेना के अधिनायक हो गए। जुलाई सन् १७५३ से लेकर दिसम्बर तक में देश के कोने कोने में आन्तरिक कलह की अग्नि प्रज्वलित हो उठी थी। राजेन्द्र गिरि जी के इन दो शिष्यों ने इन युद्धों में

अच्छा भाग लिया। इसका थोड़ा सा परिचय हमें 'सुजान-चरित' और 'तारीख-ए-अहमदशाही' से प्राप्त हो जाता है। सुजानचरित (१६१ प्र) से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि नागाओं ने प्रथम जुलाई को रणक्षेत्र में पदार्पण किया और शाही सेना के लगभग पाँच सौ सैनिकों को मौत के घाट उतारा।

पन्द्रह दिनों बाद युद्ध का प्रवाह बदला शाही सेना ने अपने युद्धविन्यास में परिवर्त्तन किया। अब सम्राट अहमदशाह तथा वजीर इन्तजाम ने स्वयं युद्धस्थल में उपस्थित होने का निश्चय किया। इस समाचार से सफदर की सेना में खलबली मच गई। जब कि सब के सब आतंकित थे, किंकर्तव्यविमूढ़ थे, नागा रणांगन में उतर आए। उन्होंने इस समय अपने अदम्य साहस का परिचय दिया। उस दिन युद्ध असाधारण समय पर प्रारम्भ हुआ—सूर्यास्त से एक डेढ़ घंटे पूर्व प्रारम्भ होकर रात्रि की दो घड़ी तक चलता रहा। उस रोज नागाओं के एक सरदार बेनी गिरि ने अपना अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया। उन्होंने शाही सेना का डटकर सामना किया। वे युद्धस्थल में बड़ी बहादुरी से लड़ रहे थे कि एक मराठा जमादार की गोली लगने से उनका प्राणान्त हो गया। (तारीख-ए-अहमदशाही) इसके अतिरिक्त दो अन्य लड़ा-

इयों में भी (२६ अगस्त और २३ सितम्बर) नागाओं ने अच्छा भाग लिया होगा, यद्यपि इसका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

इस गृहयुद्ध के समाप्त होने पर नागाओं ने सफदर जंग के साथ लखनऊ को प्रस्थान किया। सन् १७५४ में सफदर जंग की मृत्यु होने पर उन्होंने अपनी सेवाएँ उसके उत्तराधिकारी शुजाउद्दौला को समर्पित कर दीं। शुजाउद्दौला के रचयिता ने नागा सरदारों को अयोध्या के एक खत्री घराने की कन्या के अपहरण में भाग लेने का दोष लगाया है। शुजा के समर्थकों का ऐसा विचार है कि इस घटना के पीछे इस्माइल खाँ काबुली का, जो कि मुहम्मद कुली खाँ को सिंहासनारूढ़ कराना चाहता था, हाथ था।

शुजा के जीवनकाल में १७५४–६४ तक का समय बड़े गौरव का रहा है। इस समय शत्रुओं का प्रबल विरोध होते हुए भी उसने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। अहमदशाह अब्दाली जैसे आक्रामक तथा इमादुल् मुल्क जैसे कूटनीतिज्ञ के विरोधों के बावजूद उसने अच्छी सफलता प्राप्त की। देहली से निर्वासित स्थिति में वह बुन्देलखंड तथा पूर्वी भारत में अपने राज्यविस्तार की कुछ योजनाओं को कार्यान्वित कर अपने शत्रु को गहरी मात देना चाहता था। उसकी सफलता में उसके मित्र राज्यों

का ही हाथ नहीं था वरन् नागाओं की सैनिक सहायता ने भी उसमें काफी हाथ बटाया। वास्तव में उसकी सफलता का अधिकांश श्रेय नागाओं को ही है।

यदि हम इस काल (१७५४-६४ तक) की घटनाओं पर एक दृष्टि डालें तो हमें नागाओं के चरित्र का अच्छा परिचय प्राप्त हो जायगा। शुजा के शासनकाल के प्रारम्भ में ही नागाओं को इस्माइल खाँ काबुली के भीषण आक्रमण से आत्मरक्षा करनी पड़ी। सफदर जंग की मृत्यु के पश्चात् अब अवध में कोई शक्तिशाली और प्रतिभा शाली शासक नहीं रह गया था। अतः इस्माइल खाँ ने अपनी प्रभुता स्थापित करने का इसे अच्छा अवसर समझा। उसने यह अच्छी तरह समझ लिया कि शुजा के कट्टर अनुयायी होने से नागा लोग हमारी प्रगति के पथ में सबसे बड़े रोड़े हैं। अतएव स्वभावतः उसने अपने रास्ते से नागाओं को हटा देने का दृढ़ निश्चय किया। अवध का शासक शुजा भोगविलास में लिप्त एक आमोद-प्रमोद-प्रिय व्यक्ति था। वह फैजाबाद की एक खत्री-कन्या पर मुग्ध हो गया और उसे प्राप्त करने के उपाय सोचने लगा। जब उसको अन्य आदमियों से इस काम के लिए सहायता न मिली तब उसने नागा सरदारों से इस कुकृत्य में सहायता करने का आग्रह किया। फलतः नागा सर-

दारों को ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इमा-दुस्सादत में यह उल्लेख किया गया है कि शुजा के साथियों—उमराव गिरि तथा अनूप गिरि—ने उस कन्या का अपहरण कर उसे शुजा को समर्पित कर दिया। परन्तु महल में रात को निवास करने के पश्चात् उसी रात वह अपने घर भाग गई। उस लड़की के कुटुम्बियों ने इस कुकृत्य की सूचना शुजा के खत्री दीवान राजा रामनारायण को दी। इस समाचार से सारे नगर में तहलका मच गया। नगर की सारी जनता का खून शुजा तथा उसके अनुचरों के विरुद्ध खौल उठा।

उधर इस्माइल खाँ ने मुगल सेनाओं के सरदारों से समझौता कर लिया। उसकी सलाह और उसके अनुरोध से इलाहाबाद के शासक अली कुली खाँ ने लखनऊ को कूच कर दिया। गोसाईं-बन्धुओं को छोड़कर अन्य कोई शुजा के पक्ष में न था—उसका साथ देने के लिए कोई भी तैयार न था। इस समय इस्माइल खाँ ने शुजा से यह आग्रह किया कि वह अपने कुकृत्य से मुक्त होने के लिए नागाओं को अपनी नौकरी से हटा दे। इस्माइल की इस चाल को शुजा अच्छी तरह समझता था इसलिए उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। ऐसा मालूम होने लगा कि आन्तरिक कलह या गृहयुद्ध होकर ही रहेगा। परन्तु

शुजा की माँ ने* दीवान रामनारायण को प्रभावित कर लिया। वह उसे विद्रोही गुट्ट से अलग करने में सफल हुई। अतः कुछ तो शुजा की माँ सदरुन्निसा तथा कुछ नागाओं के संघर्ष के भय से, जिसमें कि विजय निश्चित नहीं थी, इस्माइल खॉ तथा अन्य मुगल सरदार झुक गए।

इस गुट्ट के असफल होने पर, अवध में नागाओं का पूरा सिक्का जम गया। परन्तु उनकी सुरक्षा तब तक डावाँ-डोल रही जब तक उनका शत्रु इस्माइल खॉ इस संसार से सदा के लिए बिदा न हो गया। सन् १७५५ में उसकी मृत्यु हो गई। अब नागाओं की उन्नति के लिए मैदान साफ था। बनारस के हिन्दू राजा के विरुद्ध युद्ध करने में नागाओं ने अपनी स्वामिभक्ति का अच्छा परिचय दिया। इससे उनकी स्थिति और भी दृढ़ हो गई।

---

* सफदर जंग की विधवा बेगम ने अपने पुत्र के विषय में रामनारायण तथा इस्माइल खाँ से जो चर्चा की थी उसका विवरण "शुजा" खंड १, पृष्ठ १७-१८ में दिया हुआ है। इस गुप्त वार्ता को ही उस समय होनेवाली राजनैतिक उथलपुथल के लिए उत्तरदायी माना जाता है। परन्तु मेरे विचार से बेगम के प्रभाव को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं आँका जा सकता। इस्माइल खाँ ने पहले से ही अपना इरादा कुछ दूसरा ही बना रखा था।

तृतीय अध्याय

राजा बलवन्तसिंह के विरुद्ध नागाओं की सहायता

अवध से सफदर जंग के बहुत दिनों तक अनुपस्थित रहने के कारण वहाँ के जागीरदारों ने अपनी शक्ति खूब बढ़ा ली थी। इनमें बनारस का राजा बलवन्त सिंह सबसे बढ़ा चढ़ा था। उसने दक्षिण में अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए कुछ दुर्गों पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। उसने सन् १७५५ में चुनार के दुर्गाध्यक्ष को रिश्वत देकर चुनार को हथियाने का उपाय सोचा था। उसी वर्ष बनारस में वहाँ के ईर्ष्यालु काजी ने विश्वेश्वर जी के मंदिर को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। इससे हिन्दुओं में बड़ा असन्तोष फैल गया। इस सुयोग से बलवन्तसिंह को अपनी योजनाएँ पूरी करने में और बढ़ावा मिला। इधर इस्माइल खाँ की मृत्यु से शुजा का भी बोझ हलका हो गया था। अपने को स्वतंत्र पाकर उसने राजा पर धावा बोल दिया।

इस आक्रमण में नागा सैन्यदल नवाब की सेना का मुख्य अंग था और नवाब की सफलता का बहुत कुछ श्रेय नागाओं को ही है। जब शुजा ने जौनपुर से बनारस के लिए प्रस्थान किया तो रास्ते में बलवन्त-सिंह की सास ने पन्दुरा नामक स्थान पर उसका विरोध किया। इस महिला ने दुर्ग की सुरचा के लिए अच्छी व्यवस्था की थी। नवाब की सेना की भीषण गोलाबारी के बावजूद इसने शत्रुओं का डटकर सामना किया। नवाब ने अब कूटनीति से काम लिया। अपनी यात्रा की देरदार रोकने तथा व्यर्थ खून-खराबी न होने देने के लिए उसने उससे समझौता करना अच्छा समझा। नवाब ने गोसाईं अनूप गिरि जी को यह कार्य सौंपा। गोसाईंजी ने इस कार्य को बड़ी कुशलता से किया। वे दुर्ग को ऐसे समझौते द्वारा अपनी अधीनता में ले आए जिसकी शर्तें दोनों पक्षवालों को मान्य थीं। इस सन्धि के द्वारा रानी को नाम मात्र के लिए दुर्ग को खाली करना था और नवाब की अनुमति से पुनः उसमें प्रवेश करना था। अतः रानी ने ऐसा ही किया। शुजा जब बनारस के लिए रवाना हुआ तो रानी को दुर्ग-प्रवेश की आज्ञा दे दी। (शुजा, प्रथम खंड पृष्ठ ३२) रानी के साथ इस समझौते से चुनार को अपनी अधीनता में

लाने का तथा राजा को पराजित करने का कार्य सरल हो गया।

अब्दाली के विरुद्ध नागा

सन् १७५६ के अन्त में अफगान आक्रमणकारी अहमदशाह अब्दाली ने भारतवर्ष पर पुनः धावा बोला। अब नवाब के प्रतिद्वन्द्वियों ने फिर जोर पकड़ा और नवाब को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया। उन्होंने राजवंश के दो राजकुमारों—मिर्जा बाबा तथा हिदायतबख्श—को मैदान में लाकर खड़ा कर दिया। उन दोनों को दो विभिन्न सैन्य दलों का अधिनायक बना दिया। अहमद खाँ बंगश, दुर्रानी सरदार जंगबाज खाँ, सुलतान खाँ, नाजिबुद्दौला का भाई तथा वजीर इमादुल् मुल्क इत्यादि से युक्त यह दल दो भागों में विभाजित हो अवध की ओर रवाना हुआ। इनमें से एक भाग का नायक मिर्जा बाबा तथा दूसरे का हिदायतबख्श था। अप्रैल १७५७ के प्रथम सप्ताह में मिर्जा बाबा मैनपुरी से ४० मील उत्तर में स्थित कादिरगंज पहुँचा। हिदायतबख्श भी (उससे ३२ मील दक्षिण की तरफ स्थित) इटावा पहुँच गया। इन सेनाओं का संचालन राजघराने के ही राजकुमारों के द्वारा होने के कारण शुजा अब एक विद्रोही के रूप में हो गया था। अब

मुगल सेनाओं ने उसका साथ देने में आनाकानी की परन्तु नागाओं ने प्रसन्नता से अपना हाथ सहायता के लिए बढ़ा दिया। अनूप गिरि जी शाही सेना के विरुद्ध लड़ने के लिए सैन्य संचालित करने लगे। उन्होंने ऐसी कुशलता से कार्य किया, ऐसी चाल चली जिससे शत्रुओं की सारी योजनाओं पर पानी पड़ गया। इसके बजाय कि वे उन दोनों दलों से मोर्चा लेते, उन्होंने फर्रुखाबाद की तरफ प्रस्थान कर दिया। अहमद खाँ को अब अपनी राजधानी की चिन्ता हो गई—वह हिदायतबख्श का साथ छोड़कर अपनी राजधानी की ओर चल पड़ा। अहमद खाँ के न होने से हिदायतबख्श की हिम्मत छूट गई। उसने भी उसके पीछे-पीछे फर्रुखाबाद की ओर प्रस्थान कर दिया। मिर्जा बाबा भी अपनी सेना सहित वापस चला गया।

इस बीच सांगी के निकट दारानगर तक अनूप गिरि जी बढ़ आये थे। उन्होंने अवध की राजधानी पर आक्रमण करने की योजना का, कार्यान्वित किए जाने से पूर्व ही, अन्त कर दिया। अनूप गिरि छः सप्ताह तक, सन्तरी की भाँति, सीमाओं की रक्षा करते रहे और अकेले दम शत्रुओं के दाँत खट्टे करते रहे। उधर नवाब भी सेना लेकर अनूप गिरि की सहायता करने आ पहुँचा। शाही सेना भी इस

समय काफी सुसंगठित एवं शक्तिशाली थी और नवाब की सेना से संघर्ष लेने के लिए उतावली हो रही थी। जैसा कि तत्कालीन इतिहासज्ञ सामिन ने लिखा है 'प्रत्येक दिन राजकुमार सब सरदारों—जंगबाज खाँ, हाफिज रहमत खाँ, मुल्ला सरदार खाँ बख्शी तथा नवाब मुहम्मद खाँ आदि—से घिरा रहता। इनके अतिरिक्त अन्य सरदार भी सम्राट् और शाह की आज्ञा का पालन करने के लिए युद्ध करने के वास्ते पूर्ण रूप से तत्पर रहते थे।' (इन्डियन एन्टिक्वेरी १६०७, पृष्ठ ६७)।

दूसरी ओर अफगान नेताओं की उत्कृष्टता सुनकर नवाब की सेना में निराशा की लहर फैल गई। सामिन ने लिखा है 'जब कि सादिक बेग के भीमवशी की पलटन को परेड की आज्ञा दी गई तो सरदार खाँ के, जो कि पाँच हजार सैनिकों का अधिनायक था, रेजीमेन्ट के केवल पचीस सैनिक ही परेड के लिए उपस्थित थे—शेष अफगानों के भय के कारण भाग गए थे।

ऐसी विषम परिस्थिति में नागाओं ने अपनी जान हथेली पर रखकर अद्भुत पराक्रम का परिचय दिया। वे शत्रुओं की सेना पर बुरी तरह टूट पड़े (सियार ३-४ पृष्ठ ३५) और एक ही वार में सैकड़ों अफगानों का काम तमाम कर दिया। (सामिन, पृष्ठ ६७) यह युद्ध

कोई निरर्थक सिद्ध नहीं हुआ। इसने नवाब को संधि करने में अच्छी सहायता पहुँचाई। उसने पाँच लाख रुपये क्षति-पूर्ति के रूप में देकर अपने को इस भीषण संकट से मुक्त किया।

उसी वर्ष मथुरा में अफगानों ने एक भयंकर उत्पात मचा रखा था। वहाँ की जनता उनके नृशंस अत्याचारों से त्राहि-त्राहि कर रही थी। उस साल मथुरा के निकट गोकुल में धर्मान्ध आततायियों से लड़ते लड़ते हजारों नागा साधु वीरगति को प्राप्त हुए। अहमदशाह अब्दाली ने अपने अनुचरों को आगरे से लेकर मथुरा तक कत्लेआम तथा सारे नगर में आग लगाने की आज्ञा दे दी थी।* उसके अन्धभक्त अनुयायियों ने मथुरा नगरी को लाशों से पाट दिया, खून की नदियाँ बह चलीं। सात दिन तक यहाँ प्रवाहित होनेवाली यमुना नदी में खून ही खून

---

* अब्दाली ने जो आज्ञा जहाँ खाँ को दी थी, उसका वर्णन सामिन इदिद पृष्ठ ५१ में इस प्रकार है—अपने साथ नजीब खाँ को लेकर उस जाट के अधिकृत प्रदेश में जाओ और उसके प्रत्येक जिले तथा नगर में लूटपाट एवं कत्लेआम करो। मथुरा हिन्दुओं का तीर्थस्थान है, मैंने सुना है कि सूरजमल वहाँ है अतः मथुरा का सर्वनाश कर दो। अपनी शक्ति भर उस प्रदेश में कुछ भी न छोड़ो।

दिखाई पड़ रहा था। संन्यासियों और वैरागियों के सिर धड़ से अलग कर गायों के सिरों के साथ लटका दिए गए थे। ये अत्याचार बिना किसी प्रतिरोध के मथुरा में हो रहे थे। इनके विरुद्ध आवाज उठानेवाला और कोई नहीं था। इन अत्याचारों का समाचार सुनकर चार हजार नागा संन्यासियों का एक दल मथुरा रवाना हुआ। वहाँ पहुँच कर इन लोगों ने जनता का उन आततायियों से पिण्ड छुड़ाया। गोकुलनाथजी की पवित्र प्रतिमा की रक्षा आततायियों के अपवित्र हाथों के स्पर्श से कर ली, उसे बचा लिया। हाँ, उनमें से दो हजार नागाओं ने इस कार्य के लिए अपने प्राण गवाँ दिए। (मराठी रियासत, पानीपत प्रकरण, पृष्ठ ७७)

अनूप गिरि जी मराठों के विरुद्ध

उत्तरी भारत में अराजकता का नग्न नृत्य देखकर पेशवा बालाजी बाजीराव ने उस प्रदेश को विजय करने की योजना को पूर्ण करने का विचार किया। सन् १७५७-५८ में पंजाब उनके हाथों में आ गया। इसके बाद वे नाजिबुद्दौला के अधिकृत प्रदेश में पिल पड़े। इस विशाल सेना का सामना एक दम से करने में असमर्थ होने के कारण रुहेला सरदार ने अपनी सेना को दो दलों में विभाजित कर दिया।

राजधानी नजीबाबाद को उसने अपने लड़के की अध्यक्षता में छोड़ दिया और स्वयं अपनी सेना के एक अच्छे भाग के साथ शुकरताल के सुदृढ़ किले में बन्द कर लिया। जब तीन मास तक घेरा डालने के बावजूद भी रुहेलों के झुकने का कोई चिह्न न दिखाई पड़ा तो मराठा सरदार दत्ताजी ने अपने सहायक गोविन्द बल्लाल को दस सहस्र अश्वारोहियों से युक्त कर नजीबाबाद भेजा। नजीब एक विकट संकट में पड़ गया। उसके रुहेला साथी जैसे दुन्दे खाँ, सरदार खाँ मराठों के विरुद्ध युद्ध करने से डर गए। अब नजीब को किसी के सहारे की आशा न रह गई।

ऐसे समय में उत्तरी भारत में कूटनीतिज्ञ क्रान्ति को बल मिला। शुजा एक कुशल कूटनीतिज्ञ था। उसने मराठों के आक्रमण को अपने ही अधिकृत प्रदेश पर किया हुआ आक्रमण समझा, अतः इसका बदला लेने के लिए वह (नवम्बर १७५६ में) बरेली की तरफ अपनी सेना सहित चल पड़ा। ऐसी परिस्थिति में मराठा-नजीब-संघर्ष में शुजा के हस्तक्षेप ने रुहेलों को उकसा दिया। शीघ्र ही चार हजार से भी अधिक रुहेलों ने, सरदार खाँ की अधीनता में, नजीबाबाद को प्रस्थान किया। वे रुहेला राजधानी की सीमा पर यथासमय पहुँच गए। इधर गोविन्द बल्लाल दक्षिण पूर्वी दिशा में रास्ते भर भयोत्पादक

तथा विनाशकारी कृत्यों को करता हुआ शुकरताल की ओर मुड़ गया। अब नजीब दोनों ओर से संकटों से घिर गया।

नजीब का यह संकट नागा सरदारों—अनूप गिरि तथा उमराव गिरि—के आ जाने से दूर हुआ। जब कि शुजा ने बिजनौर से १८ मील दक्षिण पूर्व हलदौर में डेरा डाला, अपनी सेना के, दस हजार के, एक दल को गोसाईं सरदारों की अधीनता में छोड़ दिया और उन्हें यह आदेश दे दिया कि जहाँ कहीं भी अफगान मिलें, उन्हें वे युद्ध में फँसाये रखें। नागा सरदारों ने रात्रि के समय जंगल के मार्ग से जाकर गोविन्द बल्लाल पर आक्रमण कर दिया। वे इस अप्रत्याशित आक्रमण से किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और उनका ठीक से सामना न कर सके। नागाओं ने दो-तीन सौ आदमियों को मौत के घाट उतारा, बहुतेरों को बन्दी बना दिया और बहुत सा धन लूट लिया। गोविन्द बल्लाल को परास्त करने के पश्चात् अनूप गिरि ने नजीब के पुल के द्वारा शुकरताल पार किया और रुहेलों के डेरों से केवल आधे कोस पर अपने शिविर स्थापित किए। शुजा भी थोड़े दिनों बाद शुकरताल में नजीब से जा मिला। शुजा की इन कूटनीतिक चालों तथा नागाओं के सफल युद्ध-विन्यास से दत्ताजी की सारी

योजनाओं पर तुषारपात हो गया। अपने शत्रुओं को अपनी बराबरी का जानकर तथा अब्दाली के पुनराक्रमण के समाचार से उसने नजीब से सन्धि कर ली और १७५६ के दिसम्बर में शुकरताल से प्रस्थान कर दिया। इधर नागा लोग भी अपने शासक के साथ लखनऊ वापस आ गए।

चतुर्थ अध्याय

पानीपत में नागा लोग

शुकरताल के आक्रमण के समय शुजा ने मराठों को अपना कट्टर शत्रु समझ लिया था। वह नागा संन्यासियों के प्रति मुसलमानों—विशेष कर अफगानों—की विरोधी या प्रतिकूल भावनाओं को अच्छी तरह समझता था तो भी पानीपत में, जहाँ कि अफगानों का विशाल समूह एकत्रित था, वह नागाओं को अपने साथ बिना किसी हिचकिचाहट के ले गया। हमें अच्छी तरह मालूम है कि उनकी विचित्र आकृति ने शाह के हृदय में भी विरोधी भाव उत्पन्न कर दिए थे। एक दिन उनको देखकर उसने यह कहा था कि मुसलमानों के सामने ये काफिर नग्न रूप में आने का साहस कैसे करते हैं। यही नहीं, शाह ने शुजा से नागाओं को अपने शिविर से हटाने को कहा था, अतः इस आज्ञानुसार नागाओं को कुछ दूर हटकर अपना शिविर स्थापित करना पड़ा। १४ जनवरी सन् १७६१ में, जब कि पानीपत में भीषण संघर्ष उठ खडा

हुआ तो उन्होंने दृढ़ रूप मे अपने अफ़गान साथियों के साथ युद्ध किया। अनूप गिरि जी ने काशी के पंडितों की सहायता से—मराठा सरदारों—विश्वास राव, सदाशिव राव भाऊ और सन्ताजी वाघ—के अवशेषों का मृतक संस्कार किया। ये सरदार युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए थे। गंगाजी के पवित्र जल से शवों को नहलाने के पश्चात् उनको चन्दन की लकड़ियों से निर्मित चिताओं पर रखकर अग्नि से प्रज्वलित कर दिया। अनूप गिरि जी दाहक्रिया के समय रक्षा के लिए उपस्थित थे। (इमाद पृष्ठ २०१-२०२; सरकार, आई-एच-क्यू, १९३४ पृष्ठ २७२)

बुन्देलों के विरुद्ध अनूप गिरि जी

बुन्देलखंड, विशेषतया निचली पर्वतीय श्रेणियों से अलग किया हुआ दक्षिणी पूर्वी भाग स्वतंत्रता का प्रमुख केन्द्र रहा है। अकबर से लेकर मुहम्मदशाह तक वह मुगल-साम्राज्य का प्रमुख अंग था। १७४८ ई० में वह सफ़दर जंग को प्रदान कर दिया गया; परन्तु न तो उसने और न उसके उत्तराधिकारी शुजा ने इस प्रदेश में मराठों की शक्ति को चुनौती देने की हिम्मत की। अन्त में पानीपत के युद्ध में मराठों के पतन पर बुन्देलखंड में भी एक उफ़ान आ गया। (सन् १७६२ में) यह वह वर्ष था जब

शुजा ने सम्राट् शाह आलम (द्वितीय) से सैनिक समझौता कर लिया था। अब वह उस प्रदेश की, जो किसी समय उसके पूर्वजों के राज्य का अंग था, पुनः प्राप्ति के लिए अपने को यथेष्ट शक्तिशाली समझने लगा था।

उसके इस उद्देश्य की पूर्ति का सारा दारोमदार नागा संन्यासियों पर ही था। बालाजी गोविन्द कालपी का और गणेश शुम्भाजी झाँसी का राज्यपाल (गवर्नर) था। इनमें से बालाजी गोविन्द बहुत स्वार्थी एवं लालची था। उसने पहले से ही पूना-सरकार के विश्वासपात्र एक मराठे सेवक से विरोध पैदा कर लिया था और वह बहुत दिनों से मुगलों की नौकरी में आने की इच्छा रखता था। अनूप गिरि जी दोनों दलों में माध्यम बन गये। उन्होंने दोनों दलवालों को एक दूसरे से मिला दिया—समझौता करा दिया। इसके परिणामस्वरूप झाँसी, एक पके फल की भाँति, वजीर के मुँह में आ गया और छत्रशाल के अधिकृत प्रदेश में आक्रमण करने का द्वार उसके लिए खुल गया। शुजा ने उस प्रदेश पर धावा बोल दिया। विरोधी दल की सेना का संचालन जैतपुर का शासक खुमानसिंह तथा पन्ना का राजा हिन्दूपति कर रहा था।

पन्ना के राजा के साथ शुजा का प्रथम संघर्ष; (मार्च-

अप्रैल १७६२) उसके ही राज्य में विद्रोह की अग्नि भड़क उठने से तथा राजा हिन्दूपति के वार्षिक भेंट के रूप में सम्पत्ति देने के समझौते के कारण, शीघ्र ही समाप्त हो गया। इस बुन्देले राजा ने कथनानुसार निश्चित वार्षिक भेंट देने की कुछ भी चिन्ता न की। नवाब वजीर, जो कि उसे एक साधारण सरदार समझता था, राजा की इस अवहेलना तथा असभ्यता पर बिगड़ गया और उसने राजा को इस धृष्टता का फल देने पर कमर कस ली। यहाँ पर फिर गोसाईं सरदार ने उसके अगुवा बनकर उसे बुन्देलखंड को सरलता से अपने अधीन करने का उपाय बतलाया।

स्थलों, और केन्द्रों को वह भली भाँति जानता था। गोसाईं जी ने इस सरदार से, वजीर की नौकरी में आने तथा अपने शत्रु के विरुद्ध युद्ध करने के लिए, आग्रह किया। करामात खाँ ने इसे प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया।

हिन्दूपति ने बिना किसी संशय या भय के इस चुनौती को स्वीकार कर लिया। वह एक अच्छे प्रदेश का स्वामी था जिसकी आय लगभग ६० लाख रुपये थी। वह एक सोने की खान का अधिकारी था जिससे होनेवाली वार्षिक आय अनुमानतः एक करोड़ रुपये के लगभग थी। उसके सगोत्री भाई-बन्धु, जिनमें शिष्टता नाम मात्र को भी नहीं थी, उसको युद्ध के लिए अच्छी सैनिक सहायता प्रदान किया करते थे। अनूप गिरि जी के आने तथा केवल पचीस हज़ार सिपाहियों की सेना द्वारा आक्रमण करने की बात सुनकर वह हँस पड़ा। उसने कहा कि किस अहंमन्यता से प्रेरित होकर इस नागा संन्यासी ने मुझसे मोर्चा लेने का साहस किया है।* मैं उसके विरुद्ध ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करूँगा जो उस नागा संन्यासी को बन्दी बनाकर मेरे सम्मुख उपस्थित

* मैं यहाँ डा० ए० एल० श्रीवास्तव के इस विचार को, कि अनूप गिरि जी के आक्रमण की बातें सुनकर हिन्दूपति घबरा उठा था, स्वीकार नहीं कर सकता।

अप्रैल १७६२) उसके ही राज्य में विद्रोह की अग्नि भड़क उठने से तथा राजा हिन्दूपति के वार्षिक भेंट के रूप में सम्पत्ति देने के समझौते के कारण, शीघ्र ही समाप्त हो गया। इस बुन्देले राजा ने कथनानुसार निश्चित वार्षिक भेंट देने की कुछ भी चिन्ता न की। नवाब वजीर, जो कि उसे एक साधारण सरदार समझता था, राजा की इस अवहेलना तथा असभ्यता पर बिगड़ गया और उसने राजा को इस धृष्टता का फल देने पर कमर कस ली। यहाँ पर फिर गोसाईं सरदार ने उसके अगुवा बनकर उसे बुन्देलखंड को सरलता से अपने अधीन करने का उपाय बतलाया।

करामात खाँ नाम का अफगान बुन्देलखंड में हिन्दूपति के सगे भाई के समान पलकर बड़ा हुआ था। उसका हिन्दूपत से, एक वेश्या की लड़की के बारे में, मनमुटाव हो गया। उसने अप्रसन्न होकर बुन्देला सरदार की नौकरी छोड़ दी और तब वह कोड़ा-जहानाबाद के इलाके में स्थित फतेहपुर में निवास करने लगा। यह भीमकाय पठान बड़ा ही शक्तिशाली तथा पराक्रमी योद्धा था। यह बुन्देलखंड के मुख्य-मुख्य आवागमन के मार्गों, दर्रों तथा वहाँ की एक एक गली से भली भाँति परिचित था। वहाँ के रक्षा के प्रधान

स्थलों, और केन्द्रों को वह भली भाँति जानता था। गोसाईं जी ने इस सरदार से, वजीर की नौकरी में आने तथा अपने शत्रु के विरुद्ध युद्ध करने के लिए, आग्रह किया। करामात खाँ ने इसे प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया।

हिन्दूपति ने विना किसी संशय या भय के इस चुनौती को स्वीकार कर लिया। वह एक अच्छे प्रदेश का स्वामी था जिसकी आय लगभग ९० लाख रुपये थी। वह एक सोने की खान का अधिकारी था जिससे होनेवाली वार्षिक आय अनुमानतः एक करोड़ रुपये के लगभग थी। उसके सगोत्री भाई-बन्धु, जिनमें शिष्टता नाम मात्र को भी नहीं थी, उसको युद्ध के लिए अच्छी सैनिक सहायता प्रदान किया करते थे। अनूप गिरि जी के आने तथा केवल पचीस हजार सिपाहियों की सेना द्वारा आक्रमण करने की बात सुनकर वह हँस पड़ा। उसने कहा कि किस अहंमन्यता से प्रेरित होकर इस नागा संन्यासी ने मुझसे मोर्चा लेने का साहस किया है।* मैं उसके विरुद्ध ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करूँगा जो उस नागा संन्यासी को बन्दी बनाकर मेरे सम्मुख उपस्थित

---

* मैं यहाँ डा० ए० एल० श्रीवास्तव के इस विचार को, कि अनूप गिरि जी के आक्रमण की बातें सुनकर हिन्दूपति घबरा उठा था, स्वीकार नहीं कर सकता।

करेगा। (इमाद पृष्ठ ८७) अतः अपने उस संकट की कुछ भी चिन्ता न कर हिन्दूपति, घुमानसिंह और खुमानसिंह, अपने दो समीपवर्ती सरदारों के साथ ८० हजार सैनिकों का एक विशाल दल लेकर मैदान में आ डटा।

बाँदा जिले के तिंदवारी नामक स्थान में युद्ध छिड़ गया। (पागसन ११३, हिम्मतबहादुर-विरुदावली)। अनूप गिरि ने हिन्दूपति तथा करामात खाँ के चाचा रहीम खाँ पठान से जिसके पीछे एक विशाल सेना थी, मोर्चा लिया। उधर करामात खाँ बारह हजार करचल बुन्देलों से युद्ध करने में जुट गया। (शुजा, प्रथम खंड पृष्ठ १४६) अपने शत्रुओं से संख्या में कम होते हुए भी गोसाइयों ने अद्भुत कौशल का प्रदर्शन किया परन्तु बुन्देले घुड़सवारों की युद्धकुशलता के परिणामस्वरूप अनूप गिरि जी पराजित हुए। शत्रुओं ने जमुना किनारे तक उनका पीछा किया। करामात खाँ युद्धस्थल में ही लड़ते लड़ते परलोक सिधारा। (पागसन ११३, हिम्मतबहादुर-विरुदावली और इमाद ८८)

इसी बीच जब कि अनूप गिरि बुन्देलों से युद्ध करने में संलग्न थे, उन पर एक और विपत्ति टूट पड़ी। उमराव गिरि नवाब के व्यवहारों से संतुष्ट नहीं थे। उनके गुणों

का वहाँ पर उचित- सम्मान नहीं होता था अतः बुन्देला-युद्ध के बीच में ही उन्होंने नवाब की नौकरी से त्यागपत्र देकर अपनी सेवाएँ बंगश सरदार अहमद खाँ को अर्पित कर दीं। इस दुर्घटना से अनूप गिरि जी की स्थिति को बड़ा धक्का पहुँचा। उन्होंने उमराव गिरि से पुनः वापस आने का आग्रह किया, परन्तु ये नहीं आए। शुजा ने, जो अभी तक अहमद खाँ की विरोधी चाल-ढाल को देख रहा था, नागाओं को युद्ध से अलग कर देने की आज्ञा प्रकाशित कर दी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह संघर्ष विकराल रूप धारण कर लेगा। जिस आदर से नागाओं का युद्धकौशल देखा जाता था उसका पता हमें अहमद खाँ के एक पत्र से चल जायेगा जो कि उसने उमराव गिरिजी के एक पत्र के उत्तर में लिखा था। पत्र में उन्होंने नवाब से यह प्रार्थना की थी कि वह उन्हें अवकाश प्रदान कर दे ताकि भविष्य में आनेवाला संकट दूर हो जाय। उत्तर में अहमद खाँ ने लिखा था, यदि आप यहाँ ठहरते हैं और सौ शिया भी आ जाते हैं तो मैं आपको भी अलग नहीं करूँगा। मेरा महल आपका ही है। (खाने मानखाने तु अस्त) इसके विपरीत यदि आप मुझसे पृथक् होना ही चाहते हैं तो मैंने आपके पैरों में बेड़ियाँ नहीं डाल रखी हैं। ईश्वर रक्षक और सहायक है। (हाफिज ओ नसीर)।

युद्ध के काले बादल दोनों के राज्यों के सीमान्त प्रदेशों पर कुछ दिनों तक मँडराते रहे। परन्तु शुजा की बुद्धिमत्ता एवं नजीब के हस्तक्षेप के कारण कोई संघर्ष नहीं हुआ। बंगश प्रदेश को छोड़कर उमराव गिरि जी आगरा वापस आ गये।

पंचम अध्याय

अनूपगिरि जी पंच पहाड़ी, पटना, और बक्सर में

नवाब अलीवर्दी खाँ की मृत्यु के पश्चात् ईस्ट इंडिया कम्पनी का सिक्का जमने के कारण बंगाल में अनेक राजनैतिक उथल-पुथल हुए। सन् १७६३ के नवम्बर में अपदस्थ शासक मीर कासिम ने अपनी अतुल सम्पत्ति तथा योग्य एवं सुशिक्षित सिपाहियों के साथ आकर नवाब वजीर के शिविर में शरण ली। फलतः शुजा और अंग्रेजों में अब संघर्ष छिड़ गया।

पंच पहाड़ी और बक्सर की दो लड़ाइयों ने उत्तरी भारत के राजनैतिक स्वरूप को काफी बदल दिया। तूरानी मुगल, पठान, राजपूत आदि वजीर की ओर से लड़े परन्तु जिस वीरता से नागाओं ने युद्ध किया वैसा अन्य किसी ने नहीं। यह सभी जानते हैं कि नवाब के मित्र बलवन्तसिंह, मीर कासिम और बेनी बहादुर जैसे विश्वासी दीवान ने युद्ध से हाथ खींच लिया था।

उन्होंने चुप्पी साध ली थी परन्तु प्रातःकाल के युद्ध के पश्चात् जब दो बजे से पुनः युद्ध प्रारम्भ हुआ तो नागाओं ने ही सबसे पहले अंग्रेजी सेनाओं की दाहिनी टुकड़ी पर आक्रमण किया। पाँच-छः हजार नागा रणभूमि में उपस्थित थे। वे तीक्ष्ण धारवाली तलवारों, खड्गों तथा तीर-कमानों आदि शस्त्रों से सुसज्जित थे। उनके पास न तो लोहे का कवच था और न शिरस्त्राण ही जिससे गोलियों की बौछार से उनकी रक्षा हो सकती। यह सब कुछ होते हुए भी उन्होंने समरस्थल में पदार्पण किया, अपनी सारी शक्ति लगाकर अंग्रेजों से मोर्चा लिया, उनके दाँत खट्टे किये किन्तु तोपों और गोलियों की भीषण वर्षा के कारण उन्हें पीछे हटना पड़ा—वे पराजित हुए।

बक्सर में भी (२३ अक्टूबर १७६४) नागाओं ने अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया। उन्होंने जगदीशपुर ग्राम तथा उसके उत्तर पूर्वी दलदलवाले प्रदेश को पार कर अंग्रेजों की पिछली टुकड़ी पर भीषण आक्रमण कर दिया। शीघ्रगामी उद्मोहन के द्वारा अंग्रेजों ने नागाओं के भीषण प्रहार का तथा मुगलों के मोर्चे का सामना किया। उन्होंने तोपों और गोलियों की बौछारों से आक्रमण की गति को मन्द कर दिया किन्तु इसके पहले अंग्रेजों की

पिछली टुकड़ी को काफी चति पहुँच चुकी थी या नहीं, जैसा कि कर्नल हार्पर ने कहा है कि यदि शत्रुओं की सेना के एक या दो हजार सैनिक उसी बहादुरी से लड़ते जैसा कि वे सैनिक लड़े जो कि तोपचियों पर आक्रमण कर रहे थे तो अँग्रेजी सेना तितर-बितर हो जाती, अँग्रेजों को युद्ध में पराजित होना पड़ता परन्तु अँग्रेज पीछे नहीं हटे। उधर वजीर की सेना में उचित नेतृत्व और एकता का अभाव था। हाँ, गोसाइयों ने अपनी जान हथेली पर रखकर युद्ध किया। अँग्रेजों की ओर से बढ़नेवाली गोलियों की भीषण बौछार के होते हुए भी वे अपने स्थान से जरा भी नहीं हटे।

रॉबर्ट ब्रस की अध्यचता में युद्ध करनेवाले स्काटलैंड के पहाड़ियों या गैरीबाल्डी के दस हजार सैनिकों की भाँति वे देशभक्ति की प्रबल भावना से उत्साहित होकर नहीं लड़े थे। उनके सामने तो एक लक्ष्य था—स्वामिभक्ति। इसी लिए उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगाकर भीषण संग्राम किया, अद्भुत वीरता प्रदर्शित की। ऐसी वीरता जो उस प्राचीन युग में आकाश और पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग को भी हिला देती थी।

जाटों को सहायता (१७६४-१७६६)

अठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में सूरजमल के नेतृत्व में उत्तरी भारत में जाटों का अच्छा सिक्का जम गया था। सन् १७६३ में सूरजमल ने नाजिबुद्दौला से युद्ध ठान लिया। घमासान युद्ध हुआ। उसी संघर्ष में सूरजमल वीरगति को प्राप्त हुआ—वह गोली से मारा गया। सूरजमल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अपनी जातीय सरदारी को एक पूर्ण सत्ताधारी सम्राट् के रूप में परिवर्तित करने तथा देहली की राजधानी में अपनी विजय-पताका फहराने का प्रयत्न करने लगा।

उमराव गिरि ने फर्रुखाबाद के नवाब का साथ छोड़ दिया था तथा अनूप गिरि जी ने अवध के नवाब की नौकरी से त्यागपत्र देकर अवकाश प्राप्त कर लिया था। अब दोनों ने जाटों को अपनी सेनाएँ अर्पित कर दी थीं। इन दिनों गोसाइयों ने जाटों को इस जाट-रुहेला-संघर्ष में बड़ा सहयोग प्रदान किया। जब मल्हारराव ने जवाहरसिंह को आवश्यक सहायता देने से इन्कार कर दिया तो जवाहर ने यमुना नदी के पूर्वी किनारे से आक्रमण करने की योजना बनाई। परन्तु रास्ते में पटपर-गंज के बाजार की अन्धाधुन्धी लूट तथा नदी के दूसरे किनारे पर जाट अश्वारोहिणी से उठनेवाली धूल के

हिम्मत बहादुर राजा उमराव गिरि जी

बादलों ने रुहेला एकाधिपति को आनेवाले संकट से अवगत करा दिया। उसने इस संकट का बड़ी बुद्धिमानी से सामना किया। उसने गुप्त आक्रामकों की स्थिति अपनाई जिसमें कि उसके सैनिक पूर्ण रूप से दक्ष थे। फलतः जाटों की सेना को बड़ी भारी क्षति पहुँची। जैसा कि एक तत्कालीन इतिहासज्ञ, जिसने कि अपनी आँखों से युद्ध को देखा था, लिखता है कि सेवईराम अपने डेढ़ सौ घुड़सवारों के साथ भीषण संघर्ष में पड़ गया ...जब कि बलराम और (राम) किशन महन्त आदि सरदार युद्धस्थल से भाग गये थे, रुहेलों ने उनका पीछा किया और मुगलों के अश्वारोही, जो पहले भाग गये थे, अब फिर वापस आ गए थे और उन्होंने भी जाटों का पीछा करना प्रारम्भ कर दिया था। अब जाट लोग एक ओर रुहेले शत्रुओं तथा दूसरी ओर यमुना नदी के बीच में पड़ गये। उन्हें कहीं से भी किसी प्रकार की सहायता की आशा न रह गई। उधर नदी की दूसरी ओर से जवाहर इस दृश्य को देख रहा था। वह सहम गया। वह उनकी सहायता के लिए नदी को पार कर जाना चाहता था। यह ऐसा कार्य था जिससे उसे अपने प्राणों से भी हाथ धोने का भय था। इमादुलमुल्क ने भी उसे ऐसा करने से रोक दिया।

ऐसी विषम परिस्थिति में उमराव गिरि जी को भागते हुए जाटों की रक्षा करने का, रुहेले घुड़सवारों से उनको मुक्त करने का काम सौंपा गया। भविष्य की जरा भी चिन्ता न करते हुए इस वीर योद्धा ने छः-सात सौ आदमियों को लेकर अपने अश्व को पानी में कुदा दिया। (इमिद ८०) भाग्यवश उन्हें नदी में छिछला स्थल प्राप्त हो गया। वहाँ पर कम जल था, अतः उन्होंने आसानी से नदी को पार कर लिया और वे भागते हुए जाटों से जा मिले। इस दल के पहुँचने से उन जाटों में उत्साह और आशा की लहर दौड़ गई और वे वापस आकर संघर्ष में पुनः रत हो गए। यह संघर्ष संध्या काल तक चलता रहा। रात्रि हो जाने पर रुहेले नगर को वापस चले गए। इधर जाट भी नदी पार करके अपने साथियों से आ मिले। जाटों का राजा गोसाईं जी के इस कृत्य से बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने गोसाईं जी को अपने साथ अपने हाथी के हौदे पर बिठा लिया और उनके साथ ही साथ अपने शिविर के चारों ओर, आहत सिपाहियों को देखने के लिए, चक्कर लगाये।

इस घटना के एक मास से भी ऊपर तक जाट और रुहेलों का संघर्ष जोरों से चलता रहा। जवाहर ने सिक्खों को अपनी सहायता के लिए बुलाकर अपनी शक्ति को

बढ़ाने का प्रयत्न किया तो भी वह शत्रुओं पर कोई महत्त्वपूर्ण विजय नहीं प्राप्त कर सका।

ऐसी परिस्थिति में उसने अनूप गिरिजी से सैन्य सहायता लेकर अपनी आक्रामक स्थिति को और भी प्रबल बनाने का प्रयत्न किया। इस नागा सरदार ने अपने स्वामी शुजा को उसकी हरएक परिस्थिति में सहायता प्रदान की थी। बक्सर के युद्ध के पश्चात् से लेकर उसके रोहेले प्रदेश में निर्वासन के समय तक उसकी अच्छी सेवा की थी परन्तु जब आर्थिक संकट के कारण वह अपने सेना-व्यय को न सँभाल सका, और अचलगढ़ के दुर्ग से लाखों रुपये के सिक्के लूट लिये गए तो उन्होंने अपनी सेवाएँ १७६४ के दिसम्बर के अन्त में, जवाहर सिंह को अर्पित कर दीं।

उनके आ जाने से कुछ समय तक युद्ध की दिशा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। नजीब ने रसद के अभाव से होनेवाली तंगी को शान्ति से सहन कर लिया और अपनी सेनाओं को युद्ध में अपना अद्भुत साहस दिखाकर काफी उत्साहित किया। एक बार उसने एक हाथी पर, जिसके ऊपर जवाहर का झंडा फहरा रहा था, गोली चलाई। गोली हाथी के गले को पार करती हुई सनसनाती चली गई। उससे कुछ हानि नहीं पहुँची। शत्रुओं के भीषण तथा उत्साहपूर्ण प्रतिरोध को देखकर जाट राजा बड़ा

हतोत्साहित हुआ। उसके एक साथी इमाद ने, जो कई वर्ष से जाटों के राज्य में उनका अतिथि बनकर गुलछर्रे उड़ा रहा था, अब चुप्पी साध ली थी। उधर मल्हारराव, जिसने जवाहर से अतुल सम्पत्ति ली थी, ढीला पड़ गया था— उसने सहायता करने से हाथ खींच लिया था। 'इस मराठे ने मुझसे काफी धन ले लिया है परन्तु यह युद्ध की तरफ कुछ-ध्यान नहीं दे रहा है', निकट में ही स्थित अनूप गिरि ने जाट राजा के इन शब्दों को सुन कर उसकी सहायता के लिए कमर कस ली। उन्होंने कहा 'आज मैं नागाओं के साथ जाऊँगा और मुझसे जो कुछ भी करते बनेगा, करूँगा।' (इविद ८६) गोसाईंजी ने अपने कथन का अक्षरशः पालन किया। उसी दिन उन्होंने अपने तथा कुछ जवाहर के अनुचरों को लेकर नदी पार कर ली और नगर की चहारदीवारी के बाहर स्थित हाफिजुद्दीन के राजप्रासाद पर अधिकार जमा लिया। इधर जवाहर ने ऐसी नीति अपनाई जिसे प्रसिद्ध विद्वान् लीडेल हार्ट ने 'प्रत्यक्ष निकट पहुँचने की प्रणाली' कहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसने शत्रु पर बलाधिक्य प्रत्यक्ष, (सामने के) आक्रमण द्वारा विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। अनूप गिरि जी ने इस पद्धति को बदल दिया और अप्रत्यक्ष ढंग से शत्रुओं को नीचा दिखाने की चाल

चली। उन्होंने अपनी पैदल सेना को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर कई भागों में विभक्त कर दिया और उन्हें नगर में बेतरतीब से प्रवेश करने की आज्ञा दी। उनके तोपखाने के पीछे अश्वारोही थे। आरम्भ में ये लोग खूब सफल हुए, कितने ही रुहेलों को मौत के घाट उतारा। नजीब को स्वयं युद्धस्थल में आना पड़ा। उसने भी एक चाल चली। उसने अपने सिपाहियों को युद्धस्थल से बुला लिया। तब नागा लोग भी धीरे धीरे आगे बढ़ने लगे। नजीब खाँ ने अपने सिपाहियों से, विभिन्न दिशाओं से, नागाओं पर धावा बोलने को कहा। एक ही हमले से नागाओं की सारी व्यवस्था अस्त व्यस्त हो गई। पैदल सिपाहियों के घिर जाने से अश्वारोहिणी सेना स्थिर हो गई। आगे बिना तोपखाने के उनका बढ़ना असम्भव था। फलतः भीषण रक्तपात के पश्चात् जनवरी १७६५ में अनूप गिरि जी को पीछे लौटना पड़ा।

यह आँखमिचौनी का युद्ध कुछ दिनों तक और भी चलता रहा। अकाल की आशंका तथा रुहेलों की फौजों में फैली हुई निराशा से ऐसा प्रतीत होने लगा कि नजीब को मुँह की खानी पड़ेगी परन्तु उसे जवाहर के मित्रों—मल्हार और इमाद—से सहायता मिल गई। साथ ही जाटों की कायरता, उनकी अराष्ट्रीय भावना तथा अपने स्वार्थों को

त्याग कर सहयोग न देने की प्रवृत्ति से उसको और बल मिला।

जवाहर की वह विशाल योजना असफल रही, उसका स्वप्न अधूरा रह गया, पर ऐसी परिस्थिति में गोसाइयों ने अपनी स्वामिभक्ति का अच्छा परिचय दिया।

पानीपत के संघर्ष के पश्चात् उत्तरी भारत में मराठों का नेतृत्व होल्कर के हाथ में आ गया। १७६६ ई० के आरम्भ में होल्कर ने जवाहर के प्रतिद्वन्द्वी नाहरसिंह को अपनी सैनिक सहायता प्रदान कर दी। इस बात पर जाट राजा का रक्त खौल उठा। उसने मराठों को बुरी तरह पराजित किया और उनके नायकों को बन्दी बना लिया। इस विजय से उन्मत्त होकर जवाहर ने मराठों को उत्तरी मालवा तथा बुन्देलखंड से निकाल भगाने पर कमर कस ली।

ऐसी स्थिति थी जब कि पेशवा का भाई रघुनाथ राव उत्तरी मालवा में आ पहुँचा। महादजी सिन्धिया तथा मल्हार की सेनाएँ भी भंडेर के निकट उससे जा मिलीं। अब उसके पास ६० हजार तक की अश्वारोहिणी हो गई थी और तोपखाने की सौ से भी अधिक टुकड़ियाँ हो गई थीं। अपने इस सैन्यबल को लेकर छः महीने तक वह गोहाद के दुर्ग के विरुद्ध लड़ता रहा, पर उसका कोई

परिणाम न निकला। इसके पश्चात् वह जवाहरसिंह से निपटने के लिए बढ़ा। दोनों विरोधी पक्षों की सेनाएँ एक दूसरे पर आक्रमण करने के लिए बढ़ीं परन्तु अब्दाली के हमले के समाचार से दोनों दलों का जोश ठंडा पड़ गया, और सन्धि की चर्चा छिड़ गई।

विंध्य पर्वतश्रेणियों से निकलकर चम्बल नदी राजपूताना और मालवा में बहती हुई इटावा के पूर्व में यमुना नदी से मिल जाती है। धौलपुर के नीचे यह दक्षिण की ओर एक पतली धारा में होकर प्रवाहित होती है। वहीं पर नदी के किनारे किनारे ऊबड़ खाबड़ मैदान हैं। १७६६ के नवम्बर महीने में चम्बल नदी के इसी मैदान में जाटों और मराठों की फौजों के कारण तम्बुओं का एक नगर ही बस गया था। कई दिनों तक सन्धि की चर्चा चलती रही। जाटों की ओर से हरजी चौधरी और मराठों की ओर से दीवान नन्दराम सन्धि की वार्ता चला रहे थे। इस स्थल पर विभिन्न वर्गों के मनुष्य एकत्रित थे, परन्तु सारा वातावरण शान्ति और आनन्द से पूर्ण था। जवाहर सिंह, उमराव गिरि तथा नारु शंकर ने एक दूसरे के शिविरों का आनन्द से भ्रमण किया। इस अवसर पर उमराव गिरिजी ने नारु शंकर को कई मन अन्न तथा पाँच सौ रुपये की भेंट दी थी।

२२ दिसम्बर की रात्रि के मध्यकाल में, जब कि दोनों दलों के मित्र सैनिक निद्रा देवी की गोद में विश्राम कर रहे थे और कुहरे के कारण प्रकाश की धूमिल किरणें पृथ्वी पर पड़ रही थीं, जवाहर ने अपने कुछ विश्वासी सैनिकों को गोसाईं जी के डेरे पर आक्रमण कर उसे नष्ट भ्रष्ट करने की आज्ञा दे दी। उन्होंने उसकी इस आज्ञा का पालन बड़ी कुशलता एवं तत्परता से किया और लग-भग पाँच सात सौ सैनिकों का काम तमाम कर दिया। उमराव गिरि, अनूप गिरि तथा मारित गिरि ने किसी प्रकार तीन सौ सैनिकों को लेकर मराठों के शिविर में पहुँच कर अपने प्राण बचाये।

इस प्रकार का कायरतापूर्ण आक्रमण जाट राजा के सबसे विश्वासी तथा स्वामिभक्त सेवकों पर किया गया। हरचरणदास ने १७८४ में 'चहार गुलजार-ए-शुजा' की रचना की पूर्ति की थी। उसने इस दुर्घटना का इस प्रकार वर्णन किया है कि गोसाइयों के दो सरदार जाट राजा के विरुद्ध षडयन्त्र रचकर मराठों से मिल गये थे। (सरकार पांडुलिपि) इस वक्तव्य ने आधुनिक इतिहासज्ञों के विचारों को काफी अनुरंजित कर दिया

लेखा से स्पष्ट हो जाता है कि जवाहर ने यह दुष्कृत्य किया था, इसका दोषी वही था।[1] हमें इसके अतिरिक्त काले अखबारात से, जिसे अभी हाल ही में सर जदुनाथ ने खोज निकाला है, यह पता चलता है कि जवाहर के मस्तिष्क में ये विचार उसके धार्मिक गुरु तथा राजनीतिक सलाहकार रामकृष्ण महन्त ने भर दिये थे। यह वह व्यक्ति था जो प्रारम्भ से ही, जब से यह राजसिंहासनासीन हुआ था, उमराव गिरि जी की शक्ति में हाथ बँटाता रहा परन्तु बाद गोसाईंजी की युद्धकुशलता और कूटनीतिज्ञता के कारण उसे अपने मुँह की खानी पड़ी। अतएव ईर्ष्या-द्वेष की कुभावनाओं से उत्प्रेरित होकर रामकृष्ण[2] ने गोसाईंजी के विनाश की यह चाल खेली होगी। उसे इस कुकृत्य की पूर्ति का उस समय अच्छा अवसर हाथ लगा जब गोहद से बालानन्द गिरि गोसाईं ने अपने

---

१ जब उसे इस विश्वासघात का पता चला कि उसके पक्ष के दो सरदार उसके विरुद्ध ऐसा षडयन्त्र रच रहे हैं तो उसने विश्वासघातियों से इसका बदला निकाला। देखिए जदुनाथ सरकार का अनुवाद, वेन्डेल।

२ रामकृष्ण महन्त द्वारा उकसाए जाने पर जवाहर ने उमराव गिरि और अन्य सरदारों से बदला लेने पर कमर कस ली और उनके शिविर में खूब लूट-पाट मचाई।

काले अखबारात अ. ४ अ

बीस हजार सैनिकों द्वारा उसको अपनी सहायता न दी थी।

इस कुचाल के परिणामस्वरूप रामकृष्ण महन्त अपने स्वार्थ की सिद्धि करने में सफल हुआ। परन्तु इससे जाट राज्य की बड़ी हानि पहुँची। वह अपने राज्य के एक स्वामिभक्त और विश्वासी सरदारों से, अपनी जान हथेली पर रख कर लड़ने वाले सैनिकों से हाथ धो बैठा। जयपुर के क्षेत्र को पार कर पुष्कर झील तक के जाटों के आक्रमण ने अपने हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मार ली। इससे जाट राजा की कमर टूट गई और बुन्देलखंड में जाटों के राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया।

बुन्देलखंड और अवध में कामगिरी

रघुनाथ राव ने अपने शिविर में इन मराठे सरदारों का बड़ा शानदार स्वागत किया और उनकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए शीघ्र ही डेरे, कपड़े, हाथी घोड़े आदि की व्यवस्था कर दी। रघुनाथ राव के इस अनुग्रह तथा दयापूर्ण-व्यवहार से उमराव गिरि का हृदय भर गया। जैसा कि काले अखबारात ने लिखा है, मार्च १७६७ से उमराव गिरि सदैव अपने दलबल सहित दादा रघुनाथ राव के साथ रहते और उनसे चम्बल नदी को पार कर जाटों के अधिकृत प्रदेश पर आक्रमण करने का आग्रह करते परन्तु

रघुनाथ राव अब जवाहर से युद्ध करना नहीं चाहता था, अतः उसने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। इसके थोड़े समय बाद वह दक्षिण के लिए रवाना हो गया। अब नागा लोग स्वतन्त्र थे। उन्होंने बुन्देलखंड में, जो कि गुमान और खुमानसिंह के विरोध तथा वहाँ के कुछ सरदारों के विद्रोह के कारण अब किसी का भी राज्य नहीं रह गया था, खूब लूट-मार की। जून सन् १७६७ में अनूप गिरि जी ने गूजरों से समथर को छीन लिया और उमराव के हाथों में झाँसी सौंप दी। इन दो सरदारों ने इस तालुके के ४२ गाँवों में से २६ गाँवों को पूर्ण रूप से नष्ट भ्रष्ट कर दिया। (इविद २६, १६५) परन्तु इस समय अवध का नवाब, जिसकी स्थिति पहले डाँवाँडोल थी, अपने पैरों पर खड़ा हो गया था। छपरा-सम्मेलन ने उसे पुनः उसके राज्यों का अधिकारी बना दिया था। उसने इन गोसाइयों को पुनः अपने यहाँ बुला लिया। उन्हें चार हजारी जात के तथा तीन हजारी मनसबदार का पद देकर सम्मानित किया गया, साथ ही यह विशेष अधिकार भी प्रदान किया गया कि वे नवाब को बिना पूर्ण विवरण दिए हुए सिपाही भर्ती कर सकते हैं। इन *दोनों सरदारों में से प्रत्येक का ४६०० मुद्राएँ वार्षिक* वेतन निश्चित कर दिया। इस प्रकार अब उनकी स्थिति

ठीक दूसरे सेनापति गोपाल राव मराठा के समान, जो कि पेशवा वंश का था और शुजा की नौकरी में था, हो गई। (इमाद १०२)

नागा सरदारों ने अपनी नौकरी के इस काल में (१७६७-१७७५) युद्ध एवं राजनैतिक क्षेत्र में अपनी अद्भुत कुशलता का परिचय दिया। उनके इन स्वामि-भक्ति तथा निष्ठा-पूर्ण प्रयत्नों ने नवाब को भारतीय राजनीति के रंगमंच पर अपनी स्थिति की पुनःप्राप्ति में अच्छा हाथ बटाया। उन्हीं की सेवाओं के फलस्वरूप शुजा को शीघ्र ही वह स्थान प्राप्त हो गया जो उसे पहले प्राप्त था।

षष्ठ अध्याय

जाटों के प्रदेश में कार्यक्रम

अठारहवीं शताब्दी में देहली साम्राज्य की केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के अस्त-व्यस्त हो जाने के साथ ही साथ शाही दरबार में कुछ सैनिक राजनीतिज्ञों का बोलवाला हो गया था। इनमें से एक फारसी सरदार मिर्जा नजफ खाँ प्रमुख थे। आप हिसामुद्दौला के पतन (मई सन् १७७३) के पश्चात् देहली साम्राज्य के दीवान हो गए थे। मिर्जा ने जाटों को कई बार (१७७३, १७७५ तथा १७७७-७८ में) पराजित किया था। उनकी इस विजय-श्री ने उनके विकास में अच्छी सहायता पहुँचाई। यमुना नदी के पार कुतुबमीनार तथा दनकौर से 'पौने दो मील पर स्थित मैदानगढ़ी के जाट दुर्गों' को उन्होंने प्राप्त कर लिया।

जाट राजा नवलसिंह के अशक्त होने में कोई सन्देह नहीं था परन्तु महन्त बालानन्द गिरि तथा उनके गोमाईं सैन्य दल से उसे काफी बल मिला था। (सन् १७७३)

बालानन्द ने ही नवलसिंह को रणजीतसिंह से अधिक मान्यता देकर राजनैतिक मामलों का प्रमुख व्यक्ति बना दिया था। उन्हीं के बल पर जाटों ने मराठों से, जिन्हें रणजीत सिंह ने किराए पर रख लिया था, सौंख अरिंग के स्थान पर अच्छा युद्ध किया। युद्ध का चाहे जो परिणाम निकला परन्तु इतना अवश्य है कि बालानन्द गिरि अपनी स्थिति को दृढ़ किए रहे और जाटों को उनसे सतत प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्राप्त होती रही। नजफ के जाटों के साथ अनवरत युद्धों में गोसाईं सैन्यदल प्रतिरोध का प्रमुख अंग बना रहा। इन गोसाइयों ने बरसाना में मुगलों की प्रगति में रोड़ा अटकाया था जब कि नवलसिंह नजफ की सेनाओं द्वारा घिरा हुआ था। उस संघर्ष में, जो कि वहाँ ३० अक्टूबर को हुआ, बारह हजार सैनिक जाटों के वामवर्त्ती व्यूह में बालानन्द गिरि की अध्यक्षता में मोर्चे पर जमे हुए थे। उधर दूसरी ओर रहिमाद की अध्यक्षता में रुहेले जमे हुए थे। पहले नागाओं ने हथगोलों (बंब) की सहायता ली और शत्रुओं पर अग्निवर्षा शुरू कर दी परन्तु उसका कोई फल न निकला। रुहेलों की पैदल सेना समुद्र की प्रचंड उत्ताल तरंगों के समान इन लोगों पर टूट पड़ी और गोलियों की भीषण बौछार करने लगी। नागा लोग इस रुहेलों के

भीषण आक्रमण का सामना वीरता से करते रहे, लगभग एक हजार नागा वीरगति को प्राप्त हुए और शेष को पीछे हटना पड़ा स्थिति अब भी सँभल सकती थी, क्योंकि जाटों की दाहिनी टुकड़ी ने, जो कि समरू की अध्यक्षता में थी, मुगलों के बाँए दल को तितर बितर कर दिया था परन्तु अन्त में दृढ़ता एवं साहस की कमी और योग्य नेतृत्व के अभाव के कारण जाटों को हार खानी पड़ी।

नजफ के द्वितीय आक्रमण (१७७५-७६ ई०) में भी बालानन्द गिरि जी ने अपनी शूरता प्रदर्शित की। जाटों की सबसे बड़ी सेवा तो उन्होंने डीग को रहमत रुहेला के चंगुल से मुक्त कर की। नवलसिंह की मृत्यु पर, जब कि समस्त नगर शोक-संतप्त था, रहमत ने उस नगर के अधिपति बनने का अवसर ढूँढ़ निकाला। परन्तु उसकी इस योजना पर नागाओं के एक साहसपूर्ण एवं आकस्मिक आक्रमण से तुषारपात हो गया। मराठों की दो हजार अश्वारोहिणी के साथ, जिसका अध्यक्ष यशवन्तराव था, गोसाईं जी ने रात्रि में कुम्भेर से शत्रु पर आक्रण कर दिया और सुबह होते होते वे दुर्ग की दीवालों के अन्दर पहुँच गए। उधर शोरगुल सुनकर रुहेला सरदार नगर के बाहर निकल गया, इधर रणजीतसिंह एक उदय होते हुए सूर्य के समान लोगों के सामने उपस्थित हो गया। लोगों ने

प्रसन्न हृदय से उसका स्वागत किया। उसी वर्ष के दिसम्बर मास में गोसाईं जी ने इसी दुर्ग की रक्षा नजफ की भीषण सेना से करने में अच्छा हाथ बँटाया। उन्होंने पश्चिम की तरफ से आक्रमण करने की योजना बनाई और स्वयं अपनी सेना के साथ शाह बुर्ज तथा गोपालगढ़ पर, जो कि दुर्ग के पश्चिमी भाग का रक्षक था, जम गए। पहले तीन दिन तक छुट पुट हमलों के बाद चौथे दिन गोसाईं जी नजफ खाँ से भिड़ गए। वे मुगलों की सेना में पिल पड़े। अब नजफ इनसे टक्कर लेने में असमर्थ रहा, अतः उसने अपनी सहायता के लिए अपने सहायकों—मुहम्मद बेग हमदानी तथा नजफ कुली—को बुला लिया। वह दोनों शिविरों के बीच में खुले मैदान में आ डटा। गोसाइयों ने एक बार पुनः भीषण प्रतिरोध किया, वीरता से युद्ध किया। उन्होंने हवाई बाणों की सहायता से कितने ही मुगलों को मौत के घाट उतारा। अन्त में नजफ की विजय हुई। उन लोगों को दुर्ग में भाग कर अपने प्राण बचाने पड़े। मुगल सेनाओं की जीत तो हुई; परन्तु जाटों की राजधानी को प्राप्त करने का प्रश्न अब भी उतना ही असम्भव था जितना कि पहले। जाटों के लिए डीग का वही स्थान था जो कि नाइट लोगों के लिए जेरुसलेम का। उन्होंने उसकी रक्षा जी-जान से की। इधर नजफ के दल में ही फूट हो

जाने तथा दरबार में उसके विरुद्ध षडयंत्र होने से उस की स्थिति और भी बुरी हो गई। (इबादत, २७३-७४, १७७६ जनवरी)

अनूप गिरि का आगमन

ऐसी विषम परिस्थिति में देहली के सेनापति को एक अप्रत्याशित क्षेत्र से सहायता प्राप्त हो गई। अवध के अशक्त शासक आसफुद्दौला ने नागाओं को अपनी सरकारी नौकरी से पदच्युत कर दिया था और उनमें से २०,००० नागाओं को मिर्जा नजफ ने अपनी सेवा में आमंत्रित कर लिया। ये लोग किसी नियमित या निश्चित वेतन पर नहीं नियुक्त किए गए थे। इन्हें तो लूटपाट से व्यय-भार वहन करने का अधिकार देकर रखा गया था। (बंगाल, पास्ट एन्ड प्रजेन्ट १६३६,प्र १२३) उनके नेता अनूप गिरि जी ने अपनी योग्यता, अपनी बुद्धिमत्ता एवं मिर्जा के साथ सतत सहवास से राज्य दरबार में ऐसा स्थान प्राप्त कर लिया कि मिर्जा उन्हें राज्य का हितेच्छु समझता था तथा विना उनकी सलाह के कोई काम नहीं करता था। (*ईसतीस्वाव-राद इबरात १,२७६) अपनी तीस या चालीस

---

* खैरुद्दीन इन गोसाईंजी के नजफ के प्रति इस प्रेम को इन शब्दों में व्यक्त करता है, 'हरगज अज सआते जुहूद नासिमन्द।'

बन्दूकों से युक्त इस नवीन सैन्यदल के आगमन ने युद्ध को एक नई दिशा में मोड़ दिया। अपने दलबल के साथ जाट लोग दुर्ग के भीतर थे और मुगल लोग अपने सुदूर स्थित खेमों तथा निकटवर्ती खाइयों में स्थिर होकर शत्रु को घेरे हुए थे। नागाओं ने ऐसे समय में इस प्रदेश को खाद्य सामग्री की प्राप्ति के लिए लूटना प्रारम्भ कर दिया और कुम्भेर से लेकर गोवर्धन तक रसद पहुँचानेवाले दलों को लूटकर युद्ध को सक्रिय बना दिया। खुले प्रदेश में शत्रुओं पर आक्रमण कर युद्ध का अन्त करने की इन चालों का उदाहरण हमें प्रथम महायुद्ध के ट्रेञ्च युद्ध में भी मिलता है जब कि अर्ल हेग ने इस प्रकार की चालों को अपनाया था। फलस्वरूप ३० अप्रैल १७७६ को वह दुर्ग इनके हाथ में आ गया। इससे पहले की रात्रि को रणजीतसिंह किसी प्रकार दुर्ग के उसी ओर से निकल गया जिधर अनूप गिरि जी का शिविर था। गोसाइयों ने कुछ दूर तक उसका पीछा किया परन्तु जाट राजा भाग गया। वह नक्षत्र, जो बालानन्द गिरि के लिए अस्त हो गया, अनूप गिरि के लिए पुनः उदित होने लगा था।*

---

* बालानन्द ने डीग के पतन के पश्चात् जाट राजा की नौकरी छोड़ कर जयपुर राज्य में नौकरी कर ली थी। (अ० म्यु० २५० २०, सरकार पांडुलिपि प्र ३१२ अ)

सप्तम अध्याय

मुरसान के विरुद्ध अभियान

जब ब्रजभूमि से जाटों की विजयश्री प्रस्थान कर चुकी थी तब दूसरी ओर तेनवा वंश के एक रूपसिंह नामक अन्य जाट ने, जिसका भरतपुर घराने से कोई संबंध नहीं था, दोआबे की उर्वरा भूमि में अपने पैर जमाने का प्रयत्न किया। अपनी संगठन-शक्ति की क्षमता तथा युद्ध-कौशल से उसने अपनी छोटी सी रियासत को एक अच्छे राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। आगरे से ३२ मील पूर्व में, मुरसान नामक स्थान में, अपने को सुरक्षित कर उसे अपना सुदृढ़ केन्द्र बना लिया था। जब उसने अफ्रासयाब का प्रतिरोध किया और जब कर देने से इन्कार किया तो नजफ खाँ स्वयं दिसम्बर १७७६ में उसको बदला देने के लिए आ धमका। नजफ ने अपनी पूरी शक्ति से उस पर आक्रमण किया। रूपसिंह के पास केवल हथियारबन्द किसान ही थे। वह नजफ की सुशिक्षित फौजों के सामने नहीं ठहर सका और उसे अपने छोटे दुर्ग में ही शरण लेनी पड़ी। दुर्ग के अन्दर

से वह अग्निवर्षा करता रहा। उसकी एक गोली अनूप गिरि की जाँघ में आ लगी। सत्रह दिन तक अनवरत प्रतिरोध के बाद उसके छक्के छूट गए। वह सासनी भाग गया। वहाँ से उसने सन्धि का प्रस्ताव नजफ खाँ के सम्मुख रखा। उसे सन्धि की शर्तें काफी कठोर होने की आशंका थी, क्योंकि शाही फौजों को काफी क्षति पहुँची थी परन्तु गोसाईंजी के अनुरोध से नजफ खाँ ने रूपसिंह को उसके अधिकृत प्रदेश में ज्यों का त्यों छोड़ दिया, केवल उसने मुरसान को अफ्रासयाब की जागीर में मिला दिया।

अष्टम अध्याय

गौसगढ़ तथा मचेरी में कार्य-क्रम

इसके पश्चात् दूसरा बड़ा युद्ध नाजिबुद्दौला के चिड़चिड़े व घमंडी पुत्र जबिता खाँ के विरुद्ध हुआ। इसमें अनूप गिरि जी ने अपनी अद्भुत वीरता प्रदर्शित की। शुजा तथा नजफ के द्वारा रुहेला प्रदेश के बँटवारे ने उसे एक छोटे से प्रदेश का शासक बना दिया था जिसमें केवल एक ही सुदृढ़ दुर्ग घौसागढ़ था। अब्दुल अहद खाँ तथा नजफ के वैमनस्य से उसे और बल मिला, उसकी धृष्टता की कोई सीमा न रही। उसने अब्दुल अहद के भाई अब्दुल कासिम को हरा कर उसका वध करवा डाला और मृत शरीर को शवाधार (ताबूत) में बन्द करवा कर दिल्ली दरबार में भेज दिया था। (फाल आफ मोगल तृतीय, १३३-३४) अतः युद्ध की अग्नि भड़क उठी। इस युद्ध में भी गोसाईंजी ने अच्छा हाथ बँटाया। नजीब ने बड़ी दूरदर्शिता से अर्कजी अफरीदी और उमरखेल पठानों के तीन उपनिवेश घौसागढ़ के तीनों कोनों पर स्थापित

किए। ये पठान बड़े युद्धप्रेमी थे। अनूप उनसे बहादुरी से लड़े। इस लम्बे युद्ध में अनूप गिरि जी ने जो भाग लिया उसका विशेष वर्णन या वृत्तान्त हमें नहीं मिलता। मुलालाल यह कह कर कि, "आठ जून के आक्रमण के दिन वे सेना के पिछले भाग का नेतृत्व करने के लिए नियुक्त थे" इस विषय पर थोड़ा सा प्रकाश डालता है। (सरकार पांडुलिपि) उन्होंने वर्षा के सभी आघातों को सहते हुए चौदह दिसम्बर की विजय में अच्छा हाथ बँटाया।

शीतकाल का अन्त नहीं हो पाया था कि गोसाईंजी अपने स्वामी द्वारा एक नवीन युद्धस्थल पर आमंत्रित कर लिये गए। रुहेलखंड में नजफ खाँ की अनुपस्थिति से जाट तथा जयपुर राज्य के मध्य में एक नए शत्रु ने अपना सिर उठा लिया था। यह था कछवाहा वंश नरुक शाखा का प्रतापसिंह जिसने रणजीत सिंह के सहयोग से मुगलों को उनके नव-अधिकृत प्रदेशों से निकालने की ठान ली थी। नजफ की आज्ञा को शिरोधार्य कर गोसाईंजी ने प्रतापसिंह के अधिकृत प्रदेशों को पार कर (मार्च १७७८) लक्ष्मणगढ़ को घेर लिया। इस रावराजा की निजी शक्ति काफी नहीं थी। इसे सम्बा जी पर, जिनकी सेना को उसने भाड़े पर ले रखा था, अधिक भरोसा था। ऐसी स्थिति में गोसाईंजी ने बल का प्रयोग न कर

बुद्धि का उपयोग किया। उन्होंने गुप्त सन्धि के द्वारा अम्बाजी को अपनी ओर तोड़ लिया। अब प्रताप की स्थिति डाँवाँडोल हो गई। एक ही आक्रमण से उस राजा का अभिमान चकनाचूर हो गया और २२ लाख मुद्राएँ हर्जाने के रूप में देकर उसने सन्धि कर ली।

इसके थोड़े ही दिनों बाद मछेरी के राजा ने जयपुर के विरुद्ध युद्ध ठान लिया और कछवाहा राजा की ओर से अनूप गिरि जी इस कार्य के लिए नियुक्त किए गए। प्रताप ने पहले घुटने टेकने का बहाना किया और यह घोषित किया कि वह नजफ से उसके शिविर में भेंट करेगा। उसने अपने झंडे के नीचे नवलगढ़ के नवलसिंह तथा शेखावाटी के अन्य सरदारों का प्रदर्शन करवाया और एक स्वाधीन शासक के रूप में वह मुगल शिविर की ओर अग्रेसर हुआ। इस अशिष्ट तथा धृष्ट राजा को साम्राज्य के मुख्य वेतन-अध्यक्ष से मिलाने का कार्य गोसाईं जी ने किया। यह मिलाप एक उन्मुक्त वातावरण में बड़ी स्वच्छन्दता से हुआ किन्तु राजा के अनुचर उस किरमिच के सुन्दर शिविर के बाहर चहल कदमी कर रहे थे। राजा ने स्वयं कुछ उन अधिकारियों को, जिन्होंने नजराना का प्रश्न उठाया, बुरा-भला कह दिया था। भला साम्राज्य का मीर बख्शी उस राजा की धृष्टता को कब

सहन करनेवाला था, जो दस वर्ष पूर्व जयपुर-राजा के आगे बढ़ भी नहीं सकता था, उसके सम्मुख एक कदम भी नहीं रख सकता था। इस स्थल पर गोसाईं जी ने फिर कूटनीति से काम लिया। उन्होंने अम्बाजी को चार लाख रुपये का और प्रलोभन देकर अपनी ओर मिलाए रखा और उधर बड़ी चतुरता तथा गुप्त रीति से अपने स्वामी के अपमान का बदला लेने की योजना बनाई। दिसंबर १७७८ ई० की धुँधले कुहरेवाली सुबह को, जब कि सूर्य क्षितिज पर उदय होनेवाला था, एक ओर से मराठा तथा दूसरी ओर से शाही सेना ने मछेरी के डेरे पर धावा बोल दिया। वे लोग हक्के बक्के रह गए। जैसा कि खैरुद्दीन लिखता है कि 'कुछ लोग अपने बिस्तरों पर ही पड़े हुए थे, कुछ लोग दूर शौच इत्यादि के लिए गए हुए थे, राव राजा स्वयं प्रातःस्नान के पश्चात् अपने रक्षक ईश्वर की पूजा में रत था' जब कि प्रलय के दिन की भाँति शोर-गुल मचने लगा। अपनी असाधारण तत्परता से वह अपने विश्वासपात्र अनुचरों के साथ भाग निकला। इसी बीच यकायक अनूप गिरि जी भी उसके सामने आ पड़े परन्तु उन्होंने बिना किसी प्रतिरोध के उसे अपने दुर्ग लक्ष्मणगढ़ में भाग जाने दिया। (इब्रा० १, ३५२)

नवम अध्याय

कछवाहा राज्य में नौकरी

जनवरी १७७६ में अनूप गिरि जी ने नजफ के साथ जयपुर के निकट आमेर नगर को प्रस्थान किया। सम्भवतः गोसाईंजी जयपुर राजा सवाई प्रतापसिंह के राज्याभिषेक के समय पर उपस्थित थे जब कि सम्राट् ने स्वयं अपने हाथ से राजतिलक किया था। २६ फरवरी को शाही दल दिल्ली को वापस चला परन्तु गोसाईंजी, नजफ के प्रतिनिधि के रूप में, उस नजराने को एकत्रित करने के लिए, रुक गए जिसे देने का वादा राजा ने किया था।

नवम्बर के मध्य में होनेवाले राजप्रासाद के विद्रोह में नजफ खाँ सम्राट् का एकमात्र प्रतिनिधि हो गया। उसका प्रतिद्वन्द्वी अब्दुल अहद खाँ राज्य दरबार से निर्वासित कर दिया गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नजफ को यह सफलता उसके सहायक सरदारों—अफ्रासियाब, शफी और नजफ कुली खाँ—की सैनिक सेवाओं द्वारा प्राप्त

हुई थी, परन्तु गोसाईंजी की भी कूटनीतिज्ञ एवं सैनिक कुशलतापूर्ण सेवाओं को हम भूल नहीं सकते। उन्होंने नजफ को अनावश्यक युद्ध में पड़ कर अपनी शक्ति नष्ट करने से बचाया था। जो कार्य अन्य लोगों ने तलवार के बल पर सिद्ध किया उसी कार्य को गोसाईं-जी ने अपनी तीव्र बुद्धि तथा दूरदर्शिता से पूरा किया। इस प्रकार उन्होंने नजफ खाँ के उत्कर्ष को उसकी उन्नति को चरमसीमा तक पहुँचाने में अपना पूरा सहयोग दिया।

नजफ की अधीनता में इससे भी महत्त्व का कार्य गोसाईंजी ने मानसिंह और सवाई जयसिंह की पैत्रिक सम्पत्ति की रक्षा में किया। यह वह कहानी है, वह घटना है जो अपना एक विशेष महत्त्व रखती है।

पीछे हम देख चुके हैं कि अनूप गिरि जी को जयपुर में नजराना एकत्रित करने का कार्य सौंपा गया था। मराठों तथा जाटों के आक्रमणों से जयपुर राज्य दिवालिया हो चुका था। अतः राज्य एक भीषण आर्थिक संकट में था और अपने को इस प्रकार की भेंट देने में असमर्थ पा रहा था। १७७६ में उसकी इस प्रकार की आर्थिक सहयोग न दे सकने की अनिच्छा ने साथ ही अब्दुल अहद तथा नजफ के वैमनस्य ने पटियाला के

आक्रमण को असफल बनाया था। उनका आर्थिक खोखलापन ही उसके अधिकृत प्रदेशों तथा हिसार-रोहतक प्रदेश की गड़बड़ी के लिए उत्तरदायी था। एक वर्ष के शान्तिपूर्ण प्रयत्नों के बाद भी जब गोसाईंजी वह रकम वसूल करने में असफल रहे तो उन्होंने अपनी असमर्थता नजफ से प्रकट कर दी। धन के अभाव से उद्विग्न हो नजफ ने अवध की नौकरी से पदच्युत महमूद अली खाँ को इस कार्य के लिए नियुक्त किया। साथ ही उसे गोसाईंजी का भी सहयोग प्राप्त कर उस ढीठ राजा को शीघ्रातिशीघ्र काबू में लाने का आदेश दिया।

इस मुस्लिम योद्धा की अध्यक्षता में चार पल्टनें थीं। एक कप्तान लुई की अधीनता में, एक नासिरुल्लाह की अधीनता में तथा हाल में ही भर्ती की हुई अश्वारोहिणी का एक विशाल दल। वह अनूप गिरि से बयाना में मिला परन्तु शीघ्र ही सेना के नेतृत्व तथा दलों के आगमन के प्रश्न पर दोनों में कुछ मतभेद हो गया। गोसाईंजी उस प्रदेश की भौगोलिक परिस्थितियों से भली भाँति परिचित होने के नाते महबूब को पथ-प्रदर्शन करना चाहते थे परन्तु महबूब इस पर राजी न था। उसके मातहत अन्य सरदार भी इससे सहमत नहीं थे। अतः एक रात्रि के समय उसने अपने ही बल पर धावा

चोल दिया। इससे असन्तुष्ट होकर गोसाईं जी ने महेवा के राजा को उसके भाई के द्वारा भड़का दिया कि वह इस मुसलमान सरदार के मार्ग में रोड़ा अटकावे। परन्तु महमूद ने अपने तोपखाने के सहारे उस प्रतिरोध को कुचल दिया। हिन्दौल, लालसट, देवली और चाटसू जैसे स्थान एक के बाद एक उसके नीचे झुक गए। अन्त में २० अक्तूबर को वह जयपुर राजधानी के सामने पहुँच गया। उन्हीं दिनों, उसी समय, दूसरे मुस्लिम योद्धा मुर्तजा खाँ ने जयपुर से ४० मील दूर शेखावाटी से श्री मधुपुर तक छापा मारा। अब जयपुर कई छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त हो गया। जयपुर नगर ही, जहाँ सवाई प्रतापसिंह ने अपने को बन्द कर रखा था, उस राज्य का चिह्न रह गया था। वह भी मुसलमानों के उत्तरी दल द्वारा पतन के गर्त में मिला दिया गया। कछवाहा की पैतृक सम्पत्ति मिट्टी में मिल गई। यह बड़े शोक की बात है कि मुसलमानों की इस निरंकुशता ने, उनकी इस स्वेच्छाचारिता ने राजपूतों के हृदय में प्रतिशोध की भावना न भरी, अपनी रक्षा के लिए उनमें जरा भी जोश न आया। ऐसी स्थिति में कछवा राज्य की कैसे रक्षा हो सकती, उसे विनाश से कैसे बचाया जा सकता था? वह अपनी रक्षा के लिए, अपने को उस पाश से मुक्त करने के लिए अंग में भस्म रमाए

हुए गोसाईं जी का ऋणी है। उन्होंने ही उसे उस बंधन से मुक्त किया।

महबूब और मुर्तजा के आक्रमण जब पूरे जोर पर थे तब गोसाईंजी ने अपना पद त्याग दिया परन्तु नजफ के विरुद्ध किसी दल में सम्मिलित होने की अपेक्षा उन्होंने अपनी जागीर में रहना अच्छा समझा।

इसी बीच जयपुर के राजा ने नजफ तथा महबूब के सम्मुख सन्धि का प्रस्ताव रखा परन्तु एक महीने तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् उसका कोई फल न निकला, वरन् उसका मंत्री खुशालीराम मुस्लिम योद्धा द्वारा पद-च्युत कर दिया गया तो डूबते हुए राजा ने गोसाईं का सहारा लिया। उसने अपने प्रतिनिधि को गोसाईंजी के पास वृन्दावन भेजा, उन्हें एक बड़ी रकम भेंटस्वरूप देने को कहा और उनसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना की कि वे इस विषम परिस्थिति में राज्य की रक्षा करें। युद्धस्थल से हटने के पश्चात् भी गोसाईंजी ने नजफ से अपना संबंध बनाए रखा था। नजफ खाँ भी १० अक्तूबर को गोसाईं-जी के डेरे पर वृन्दावन में आ चुका था। वे तुरन्त उस कार्य की पूर्ति में लग गए। जयपुर के राजा के प्रतिनिधि के आने पर गोसाईंजी तुरन्त दिल्ली रवाना हो गए और वहाँ नजफ के वित्तीय प्रतिनिधि शिवराम कश्मीरी से मिले।

उन्होंने उसे ५०,००० रु० देकर उसकी हथेली गरम की और जयपुर के मामले को निपटाने के लिए उससे समझौता कर लिया। वह मामला किस प्रकार सुलझाया गया, इसका विशद वर्णन हमारे 'अखबारात' में नहीं है परन्तु जिस तीक्ष्ण बुद्धि से इस कश्मीरी ऐन्द्रजालिक ने मामला सुलझाया उसका थोड़ा सा आभास हमें एक पत्र द्वारा मिल जाता है। कुछ समय तक जयपुर के एक लाख रुपये तत्काल, एक लाख रुपये महबूब के वापस आने तथा महलों के प्राप्त हो जाने पर तथा सवा लाख रुपये दो किश्तों में देने की बात तो प्रतिनिधि के सामने पड़ी रही; परन्तु वह दो लाख रुपये के इकट्ठा चुकाए जाने की बात पर अड़ा रहा। जब वह उस पर सहमत न हुआ तो शिवराम ने तुरन्त ही बड़े ढंग से कहा "महबूब और मुर्तजा की अधीनता में लगभग बीस हजार पैदल तथा अश्वारोहिणी है। जब वे वापस आएँगे तो कहाँ से धन आयेगा ?" नजफ ने उत्तर दिया—ऐ भाई, तुम देखोगे कि क्या तमाशा होता है; क्योंकि बातचीत बहुत दिनों से चल रही है परन्तु अभी तक कुछ भी नहीं तय हुआ है।

कुछ ही दिनों में गोसाईंजी ने शिवराम के द्वारा नजफ को, सन्धि की उन शर्तों पर जो पहले उनकी ओर से रखी गई थीं, राजी कर लिया। मार्च १७८१ में भाग्य ने ऐसा

पलटा खाया कि गोसाईं जी पुनः जयपुर से नजराना वसूल करने के लिए नियुक्त कर दिए गए। इस पर आग-बबूला होकर महबूब जयपुर से वापस चला आया। नजफ के सम्मुख उसने अपनी दयनीय स्थिति प्रकट करते हुए कहा, "दीग में स्थित मेरी सेनाएँ वेतन के अभाव में पड़ी हैं, सिपाही मेरी सेना को छोड़कर चले जा रहे हैं। यदि आपकी यही इच्छा है तो कह दीजिए जिससे मेरे सैनिक नष्ट न हों।" नजफ ने उससे जयपुर की वह भेंट, जो पहले तय की जा चुकी है, मानने के लिए कहा। वह उनसे एकान्त में मिला और उसे उन शर्तों को मानने के लिए बाध्य किया। परन्तु यह स्वाभिमानी सरदार अपने ही हाथों अपनी हार और गोसाईंजी की विजय, उस नागा संन्यासी की जीत, कैसे होने देता? फलतः महबूब के बुरे दिन आ गए। गोसाईंजी के भाग्य ने पलटा खाया। वेतन न मिलने के कारण महबूब की सेना ने विद्रोह कर दिया, उसके शिविर को लूट लिया। वह अपनी आत्मा की शान्ति के लिए काबा चला गया। गोसाईंजी ने जयपुर को प्रस्थान किया। अपने व्यक्तिगत प्रभाव तथा परिश्रम से उन्होंने कुछ परगनों को विद्रोही सरदारों के हाथ से छुड़ा लिया और मछेरी-राजा की लूटपाट को रोकने के लिए युद्ध किया। अप्रैल के मध्य में उन्होंने मलानी पर अपना डेरा डाला।

२५ मार्च को जयपुर के राजा से भेंट की जिसमें उसका चेला गंगा गिरि भी राज्यमंत्री खुशालीराम द्वारा उपस्थित किया गया। दो दिन पश्चात् अपनी दूसरी मुलाकात में गोसाईं जी ने हाथ में गंगाजल लेकर यह शपथ खाई कि वे राजा के हमेशा मित्र रहेंगे। उनके साथ उनकी जय तथा पराजय, उनके सुख तथा दुःख में वे हमेशा हाथ बटायेंगे! राजा ने भी इसके बदले उनके लिए महलों का निर्माण कराया जिससे लगभग १२ लाख रुपये की वार्षिक आय होने का अनुमान था। इसमें से आधी आय नजफ के लिए निश्चित की गई तथा कुछ अन्य फौजों का व्ययभार वहन करने के लिए, जो कि कर वसूल करने को नियुक्त की गई थीं। इसके पहले कि सरकार अपने पैरों पर खड़ी हो पाती, महाद जी के प्रतिनिधि अम्बाजी तथा गंगाराम माठे चौथ वसूल करने के लिए आ धमके। (इन्दि २४६ अ) इस समय अनूप गिरि जी वृन्दावन चले गए थे। वे शीघ्र ही जयपुर वापस आ गए।

जून के प्रारम्भ में मराठा सरदार जसवन्तराव के सामने मोर्चा लेने के लिए गोसाईंजी जम गए। जसवन्तराव अपने को सोलंकी वंश का कहकर मालपुरा तथा टोडा परगना पर अधिकार जमाना चाहता था। अनूप गिरि से उसका संघर्ष हुआ। उन्होंने उसके पुत्र को मौत के

घाट उतारा, उसके युद्ध के शस्त्रास्त्रों तथा अन्य बहुमूल्य सामग्री को छीनकर पराजित किया। (३०८ व वाम भास्कर ३८८६)

अपने अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप गोसाईंजी ने ७५,००० रुपये की एक रक़म वसूल करने में सफलता प्राप्त की और उसका चिट्ठा १५ जून को देहली भेज दिया। अगले दिन उमराव गिरि के पुत्र कुमार जगत गिरि को सम्राट् ने जगतेन्द्र की पदवी देकर पाँच हजारी बनाया। उधर गोसाईंजी ने जयपुर को उसकी पूर्व दशा में लाने का कार्य जारी रखा, परन्तु साल के अन्त होने के पूर्व ही नजफ़ की मृत्यु से स्थिति बदल गई और वे देहली वापस चले आए।

शुजाउद्दौला के यहाँ (१७००—१७७५)

१७७० के प्रारम्भ में ही एक विशाल सेना लेकर पेशवा के प्रतिनिधि फिर उपस्थित हुए। जून और जौलाई के महीनों में उमराव गिरि जी मराठों के अलीगढ़-स्थित शिविर में रुहेलखंड के विभाजन के लिए गुप्त रीति से योजना बना रहे थे परन्तु अँगरेजों को शुजा की चालों पर शक हुआ। उन्होंने इसका विरोध किया। फलतः नवाब को बाध्य होकर अगस्त में गोसाईंजी को वापस बुला

लेना पड़ा। जब दोआवा में मराठों ने लूटपाट मचाना शुरू कर दिया और १५ दिसम्बर को उन्होंने इटावा को अपने अधिकार में कर लिया तो अवध की सुरक्षा का प्रश्न उपस्थित हो गया था। शुजा ने पुनः गोसाईंजी को कानपुर के मोर्चे पर एक विशाल सेना के साथ मराठों की निगरानी के लिए भेजा। १७७१ की अप्रेल में शाह आलम अंग्रेजों से परेशान होकर प्रयाग से राजधानी के लिए रवाना हो गया। नवाब उसे जाजमऊ तक पहुँचा कर, गोसाईं-बन्धुओं को पाँच हजार अश्वारोहियों, पाँच हजार पैदल सिपाहियों तथा पाँच तोपखानों के सहित वहाँ छोड़कर वापस चला आया।*

फर्रुखाबाद के निकट जाकर शाह आलम ने अहमद खाँ बंगश के पुत्र मुजफ्फर जंग से राज्याभिषेक की भेंट माँग कर संघर्ष ठान लिया। सम्राट् की मराठों से मेल की संभावना से सम्राट् के बंगश तथा रुहेले अफगान अनुयायियों को काफी बुरा लगा। ७ नवम्बर के काले अखबारात का एक पत्र उस दशा का इस प्रकार चित्रण करता है—"अफगान और रुहेले सरदार यह कहते हैं कि जब हिन्दुस्तान का मालिक दक्षिणवालों के हाथ में पड़ जायगा

---

* काले अखबारात के अनुसार उनके पास केवल ३००० या ४००० सैनिक थे।

तो देश के लिए यह असम्भव हो जायगा कि वह शान्ति और सुरक्षा से रह सके। अतएव यह अच्छा है कि हम सब लोग मिल कर इस प्रकार संगठित होकर सम्राट् के पास चलें कि मराठा लोग साम्राज्य के मामलों में अपना प्रभुत्व न स्थापित कर सकें।

ऐसी परिस्थिति में शुजा ने अपने प्रधान मन्त्री एलिच खाँ को सम्राट् के पास भेजा। सम्राट् ने अपने निश्चय में परिवर्तन करने से इन्कार कर दिया। इधर शुजा ने सिन्धिया से होनेवाले समझौते का माध्यम बनकर तथा अफगानों के असन्तोष को ठंडा करके, सम्राट् के दरबार में अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार सिन्धिया तथा सम्राट् के मिलाप का यह कार्य, जिससे उन दोनों के साथ ही शुजा के हितों की भी रक्षा हो, अनूप गिरि के ही हाथों में सौंपा गया। वे नवम्बर में सम्राट् से मिले और उन्हें सिन्धिया के शिविर में, जो कि २५ कोस की दूरी पर स्थित था, भेजा गया। उन्होंने मराठा सरदार से अपने स्वामी के विचारों को प्रकट किया और सिन्धिया तथा सम्राट् के मिलाप के कार्य को सुगम कर दिया। उनके इस समझौते में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया। १८ नवम्बर को शुजा के आने के पूर्व ही नबीगंज में उन दोनों का मेल-मिलाप हुआ।

आठ दिन के पश्चात् उसने गोसाईं को फैजाबाद बुला लिया।

फरवरी सन् १७७२ में शुजा की राजधानी में उसकी सेना के दो दलों में संघर्ष हो गया। साबित खानियों तथा इहलंगियों में आपस में तनातनी हो गई। शुजा की आज्ञा से गोसाईं जी ने पाँच हजार का एक दल लेकर विद्रोहियों की ओर प्रस्थान किया और उनके विरोध को कुचल डाला। उनकी सम्पत्ति नष्ट कर दी, उनका विनाश कर दिया। (हरचरन, ५०७ अ तथा ब, इमाद १०५-१०६)

उसी महीने में सम्राट् से बढ़ावा पाकर मराठों ने रुहेलखंड पर आक्रमण कर दिया। शुकरताल तथा प्रतापगढ़ के दुर्गों को उन्होंने जीत लिया परन्तु लूट के माल के बँटवारे के सिलसिले में सम्राट् ने अपने मित्रों, मराठों, से झगड़ा ठान लिया। शुजा ने इस अवसर को हाथ से न जाने दिया। उसने अनूप गिरि जी को तथा अपने दरबार में स्थित सिंधिया के दूत बहिरजी तकपीर को सम्राट् के दरबार में भेजा। गोसाईंजी ने सिन्धिया के हृदय में शुजा के प्रति मित्रता तथा आदर की ऐसी भावनाएँ भर दीं कि पूर्ण भाई-चारे या बन्धुत्व के चिह्नस्वरूप दोनों

की पगड़ियों का आदान-प्रदान हुआ।* जौलाई सन् १७७२ में एलिच खाँ के सहयोग से भागे हुए रुहेला सरदार से शुजा के नजराने की बात तय कराई और जाविता खाँ की स्त्री तथा बच्चों को मुक्त करने का प्रबन्ध करवाया।

इस घटना को बीते अभी नौ महीने भी नहीं हो पाए थे कि सिन्धिया की अनुपस्थिति में मराठों ने शुजा के प्रदेश पर आक्रमण करने का विचार किया। नवाब ने स्वयं प्रस्थान किया और ३ मार्च १७७३ को मराठों से मोर्चा ले लिया। गोसाईं जी के दल ने भी उसमें भाग लिया। उनके कार्यों ने रुहेलखंड के विजेता कर्नल चैम्पियन को इतना प्रभावित कर दिया कि उसने उन्हें अवध का सर्वश्रेष्ठ अश्वारोही कहा है। (मैकफर्सन २०३) उन्हीं दिनों उमराव गिरि ने सिंह गिरि नामक एक अन्य गोसाईं की सहायता से बुन्देलखंड में मराठों की जड़ हिला दी। उमराव गिरि ने झाँसी पर आक्रमण किया जब कि सिंह गिरि की सेनाओं ने कालपी की ओर धावा बोला। नवम्बर में स्थिति ऐसी भयंकर हो गई कि स्थानीय मराठा

---

* सर जदुनाथ सरकार ने इस घटना का वर्णन बड़े मनोरंजक ढंग से किया है। यह कृत्य शुजा की अनुपस्थिति में हुआ था। गोसाईं जी ने नंगे सिर ही फैजाबाद से सिन्धिया के शिविर को प्रस्थान किया था। (मुगलों का पतन, पृष्ठ ५८)

सरदार ने यह कहते हुए लिखा कि "यदि आपके यहाँ से ५००० सैनिक आते हैं तो किले-झाँसी की रक्षा हो सकती है अन्यथा मैं नहीं कह सकता कि वह हमारे हाथ में कैसे रह सकता है।" नवम्बर-दिसम्बर में शुजा ने दोआवे के मध्य भाग को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अनूप गिरि जी ने इस आक्रमण तथा इटावा के प्राप्त करने में, जहाँ के वे फौजदार बना दिए गए, अच्छा हाथ बटाया। १७७४ को अप्रैल में अवध ने रुहेलखंड को जीत लिया। मराठों के पत्र-व्यवहार से यह पता चलता है कि २३ अप्रैल को मीरनपुर कटरा के संघर्ष में अनूप गिरि भी उपस्थित थे। उनकी सेवाओं का प्रत्युपकार नौबत बजवा कर, एक हाथी भेंट कर तथा अन्य आदर-सत्कार के कार्यों द्वारा हुआ था। दोआवे में ५१ लाख रुपये की आयवाला एक विशाल प्रदेश भी उन्हें स्वीकृत किया गया। नवम्बर में उन्हें १०-१५ हजार की एक विशाल सेना लेकर फिर इटावा भेजा गया जो अब, बुन्देलखंड में नईम खाँ की पराजय के बाद, शुजा के हाथ से निकल गया था। शुजा की मृत्यु (जनवरी १७७५) के पश्चात् उसके पुत्र आसफुद्दौला ने बुन्देलखंड को जीतने की योजना बनाई और अनूप गिरि जी को उस सेना की अध्यक्षता सौंपी परन्तु वह योजना कार्यान्वित नहीं की

जा सकी। व्ययभार की अधिकता तथा अवध के आर्थिक संकट के कारण शीघ्रातिशीघ्र देहली में साम्राज्य के प्रतिनिधि मिर्ज़ा नजफ़ ख़ाँ की सेवा में अनूप गिरि जी, को जाना पड़ा।

एकादश अध्याय

अनूप गिरि की कूटनीतिज्ञता (१७८२-८४)

दस वर्ष तक दिल्ली पर निरंकुश शासन करने के पश्चात् ६ अप्रैल सन् १७८२ को मिर्जा नजफ खाँ की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के बाद ही उनके अनुयायियों में, आपस में, संघर्ष छिड़ गया। खून की नदियाँ बह चलीं। सर्वप्रथम अफ्रासियाब खाँ के हाथ में शक्ति रही। उसके बाद शफी खाँ ने अफ्रासियाब को परास्त कर दिया। एक बार फिर अफ्रासियाब शक्ति में आ गया और शफी पराजित हुआ परन्तु अफ्रासियाब अधिक दिन तक जीवित न रह सका। उसके ही साथियों ने उसे धोखा देकर मौत के घाट उतारा। अब हमदनी के लिए रास्ता खुल गया था किन्तु इसी बीच एक हिन्दू मराठा सरदार साम्राज्य का कर्त्ताधर्त्ता बन बैठा। यह सरदार वकीले-मुतलक के नाम से दिल्ली की केन्द्रीय सरकार का शासन-यंत्र चलाने लगा। देश के राजनैतिक मंच पर इस प्रकार के नाटकीय परिवर्तन होने का मुख्य कारण एक हिन्दू संन्यासी

की कूटनीतिज्ञता थी, इसमें अन्य किसी शक्ति का हाथ नहीं था।

इस अध्याय में हम यह देखेंगे कि इस हिन्दू संन्यासी अनूप गिरि ने किस प्रकार अपनी राजनीतिक चाल से मराठा सरदार महादजी को दिल्ली में सर्वोच्च स्थान पर पहुँचा दिया।

नजफ खाँ की मृत्यु के पश्चात् उसका प्रिय अनुयायी अफ्रासियाब खाँ रीजेन्ट नियुक्त किया गया। अफ्रासियाब ने रीजेन्ट बनने के लिए यह वायदा किया था कि वह सम्राट् के कोष को अतुल सम्पत्ति से भरकर उन्हें प्रसन्न कर देगा। परन्तु जब वह अपने इस वायदे की पूर्ति न कर सका. सम्राट् ने उसे पदच्युत कर शफी खाँ को उसके स्थान पर नियुक्त करने की चाल खेली। ऐसा करने के लिए सम्राट् ने अंग्रेजी सेना की सहायता लेने का विचार किया। उधर गोसाइं गिरि ने अफ्रासियाब खाँ को ऐसी संकटकालीन स्थिति में पाकर उसे सभी प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा सहायता दिलाने का प्रयत्न करने का आश्वासन दिलाया। साथ ही गोसाइं जी ने ऐसा प्रयत्न किया जिससे अफ्रासियाब राजकुमार को अपने साथ लेकर आगरे को प्रस्थान करे और वहाँ जानेवाली सेना का स्वयं अध्यक्ष रहे। परन्तु दुर्भाग्यवश यह चाल सफल न

हुई। सम्राट् ने इसको अपमानजनक समझ कर, अफ्रासियाब के सलाहकार अनूप गिरि जी पर प्रतिबंध व नियंत्रण लगा दिया। अपने सलाहकार के इस अपमान को अफ्रासियाब भी न सहन कर सका। उसने इसका बदला लेने का इरादा किया। इसके परिणामस्वरूप अफ्रासियाब को अपने पद से हाथ धोना पड़ा। उसके स्थान पर शफी की नियुक्ति की गई।

परन्तु शफी की सफलता चिरस्थायी न रही। वह मुख्य रूप से हमदनी की सैनिक सहायता के बल पर ही इस पद पर पहुँचा था और अब उसने आपस में होने वाली समझौतों की शर्तों को न मानकर हमदनी को अप्रसन्न कर लिया था। हमदनी ने शफी के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया। उसने जयपुर तथा मछेरी के राजाओं के साथ मिलकर आगरा के निकटवर्ती प्रदेश में डेरा डाला। शफी ने भी इस चुनौती को स्वीकार कर लिया और हमदनी को उचित उत्तर देने के लिए उसने अपने विद्रोहियों—अफ्रासियाब तथा अनूप गिरि जी—की भी सहायता प्राप्त कर ली। इस कार्य के लिए अंग्रेजों से सैनिक सहायता पाने के लिए तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड

उधर इस देर-दार को देखकर अनूप गिरि जी ने इस अवसर से लाभ उठाया। उन्होंने हमदनी से अच्छी टक्कर लेने के लिए सिंधिया से सैनिक सहायता लेने का प्रस्ताव रखा। (इब्रात ११, ५७) इस प्रकार इस रूप में देहली के राजनैतिक क्षेत्र में एक नवीन शक्ति का उदय हुआ।

उस समय महादजी सिन्धिया गोहद के जाट राजा के साथ ग्वालियर में युद्ध में लगे हुए थे। अपनी इस योजना को मूर्त रूप देने के लिए अनूप गिरि सिन्धिया के शिविर में जा पहुँचे। भाग्य की बात है कि इस समय से कोई पचीस वर्ष से भी पहले इन्हीं जाटों की बदौलत सिंधिया तथा गोसाईंजी की मित्रता हुई थी। गोसाईंजी पर जाटों ने आक्रमण कर दिया था और उन्हें भागकर महादजी के यहाँ शरण लेनी पड़ी थी और उधर महादजी ने अपनी पगड़ी गोसाईंजी को देकर तथा गोसाईंजी की पगड़ी स्वयं लेकर सन्धि की रस्म अदा कर ली थी। इस प्रकार के मैत्रीपूर्ण संबंध देखकर कोई भी व्यक्ति आसानी से यह निष्कर्ष निकाल सकता था कि गोसाईंजी ने जिस कार्य को हाथ में लिया है, उसे वे बड़ी आसानी से पूरा कर देंगे। परन्तु ऐसी बात नहीं थी। इस घटना के कुछ ही दिन पूर्व अनूप गिरि जी के बन्धु उमराव गिरि जी, जो कि सम्राट् द्वारा भेजे गए थे, निराश होकर

वापस लौट आए थे। शाहजादा जवानबख्त ने मराठा सरदार के पास यह कहला भेजा था कि मैं आपके यहाँ आना चाहता हूँ। इस पर मराठा सरदार ने यह उत्तर दिया था कि आप मेरे यहाँ आने का कष्ट न करें, मैं स्वयं आपके यहाँ आ जाऊँगा। (सतारा हिस्ट्री सेक्स० 1, ६६, न्यू हिस्ट्री आफ दि मराठा III १३६) मराठा सरदार के उपरोक्त उत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट् व शहजादा के प्रति उनकी किस प्रकार की भावना थी।

ग्वालियर वापस आने पर, फरवरी में, गोसाईं जी ने देखा कि सिन्धिया का कुछ झुकाव शफी की तरफ है। ऐसी भावना का मुख्य कारण यह था कि इस समय हमदनी ग्वालियर में पहुँच गया था और गुप्त रूप से राणा छत्रसिंह को त्रस्त कर रहा था। परन्तु जब महादजी सिन्धिया तथा हमदनी में एक प्रकार का समझौता हो गया तो हमदनी ने जयपुर के राजा की ओर प्रस्थान कर दिया। इधर सिन्धिया के भी विचार बदले। महादजी ने उन क्षेत्रों से, जिन पर कि नजफ खाँ ने अधिकार जमा लिया था, चौथ की झूठी माँग की, साथ ही कुछ हिन्दू राज्यों—भरतपुर और जयपुर के राजाओं—के लिए एक प्रकार के संरक्षण की माँग रखी जिससे उनके शिविर में स्थित ब्रिटिश रेजीडेन्ट किसी प्रकार की बड़ी सन्धि का होना असम्भव समझे।

द्वादश अध्याय

गोस्वामी अनूप गिरि के अन्य कार्य

गोसाईंजी की कूटनीतिज्ञता के फलस्वरूप दोनों में आपस में होनेवाली सन्धि के मार्ग में पड़नेवाले रोड़े दूर हो गये। धौलपुर के निकट, चम्बल नदी के तट पर, जून के अन्त में शफी तथा महादजी का मिलन हुआ और दोनों ने आपस में पगड़ी बदल करके सन्धि की रस्म अदाई की।

इधर जब गोसाईंजी ग्वालियर में ठहरे हुए थे—फरवरी से लेकर जून तक—तो उधर दिल्ली के राजनैतिक क्षेत्र में एक विचित्र ही परिवर्तन हो गया। इस समय गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्स ने सम्राट् शाह आलम से अँगरेजों के अच्छे सम्बन्ध स्पष्ट करने और सम्राट् के हित-साधन करने के लिए जेम्स ब्राउन को नियुक्त किया। (फारेस्ट-कृत सेलेक्शन फ्राम रेकर्ड्स इन दि फारेन डिपार्टमेन्ट ३,१०२५) वह अगस्त सन् १७८२ में कलकत्ते से रवाना होकर नवम्बर में अवध के सीमान्त क्षेत्र फर्रुखाबाद में पहुँच गया था। यहाँ पर उसे

सम्राट् की अनुमति न मिलने के कारण तीन मास तक रुकना पड़ा। अन्त में सलाउद्दीन मुहम्मद के प्रयत्नों के फलस्वरूप २६ फरवरी को उसने आगरे में शफी से भेंट की। अपनी असाधारण योग्यता व प्रतिभा के कारण जेम्स ब्राउन ने दिल्ली की राजनीति में अच्छा स्थान प्राप्त कर लिया। चम्बलवाले सम्मेलन में ब्राउन का सिन्धिया से भी परिचय कराया गया। जब शफी डीग चला गया, मीर बख्शी के साथ होनेवाले जाट राजा के समझौते में भी ब्राउन ने मध्यस्थ का काम किया। इस प्रकार शफी के सलाहकारों को ब्राउन ने प्रभावित करना शुरू कर दिया, और शफी से युद्ध तथा शान्ति के समय एक दूसरे को सहायता देने का वायदा कर आपस में समझौता कर लिया। परन्तु इसके पहले कि शफी सन्धि को दृढ़ करता या सिन्धिया की सन्धि वह निष्फल कर देता, उसे षड़यन्त्र द्वारा जिसमें कि गोसाईं अनूप गिरि जी का मुख्य हाथ था, राजनीतिक मंच से निकाल बाहर किया गया। शफी का अन्त कर दिया गया। इस बात का पता सन् १७८४ की तीसवीं अक्टूबर के 'अखबारात' के एक पत्र से लग जाता है। शफी की हत्या के पश्चात् महादजी ने शफी की उस सम्पत्ति की माँग की जिस पर हमदनी ने अधिकार जमा लिया था। इस पर वकील

लक्ष्मीराम ने शफी की हत्या में सम्मिलित सभी व्यक्तियों के नाम दस्तावेज निकाल दिए! इसका प्रत्युत्तर देते हुए महादजी ने कहा कि 'सब आदमियों में राजा हिम्मत बहादुर भी शामिल हैं।' उस समय गोसाईंजी भी वहीं उपस्थित थे। उन्होंने कहा कि मैंने शफी को गिरफ्तार करने की आज्ञा दी थी, न कि उसका वध करने की। (बी० यम० पांडुलिपि—२५०२१,३००)

शफी की हत्या के पश्चात् दिल्ली के राजनैतिक क्षेत्र में फिर एक शक्ति का अवतरण हुआ। अब्दुल अहद खाँ, जिसे मीर बख्शी ने निकाल बाहर किया था, अब अफ्रासियाब को सहायता देने लगा और उसे रीजेन्ट के पद तक पहुँचा दिया। इन दो सरदारों के गुप्त गुट्ट तथा उनकी सिन्धिया के प्रति द्वेषपूर्ण भावना के कारण अनूप गिरि ने वहाँ रहना अच्छा न समझा। वे वृन्दावन चले गए। इसी स्थल से वे दिल्ली-दरबार में होनेवाले क्रिया-कलापों को देखते रहे।

अफ्रासियाब ने अपने केवल तेरह मास के ही प्रारम्भिक शासनकाल में अद्भुत सफलता प्राप्त की। उसने सिक्खों को पराजित किया, जैनुलआबदीन खाँ तथा जाबिता खाँ जैसे विद्रोही सरदारों को शान्त किया, व अंग्रेजों से अच्छी सन्धि की। शफी की हत्या के पश्चात्

जेम्स ब्राउन (१७८३ के नवम्बर में) दिल्ली चला आया था। अब इस समय अब्दुल अहद तथा अफ्रासियाब खाँ जैसे सरदार ब्राउन के ही इशारों पर नाच रहे थे। उन्होंने दरबार में उठनेवाले विद्रोहों तथा विद्रोहियों की शक्ति क्षीण कर दी थी और अब अंग्रेजों की सहायता से शासन को सुदृढ़ बनाना चाहते थे। दिल्ली का राजनैतिक वातावरण इस समय अंग्रेजों के पक्ष में इस प्रकार तैयार हो गया था कि १७८४ के मार्च महीने में वारेन हैस्टिंग्स स्वयं लखनऊ की ओर रवाना हुआ। उधर सम्राट् से इशारा पाकर शाहजादा जवानबख्त महल से चुपचाप निकल कर (१४ अप्रेल को) गवर्नरजनरल के पास पहुँचा ताकि वह उसे अपने पक्ष में कर ले।

इस समय तक दिल्ली-दरबार में सिन्धिया का प्रभाव प्रायः लुप्त हो रहा था। इसी समय गोसाईं अनूप गिरि ने इस प्रकार का प्रयत्न किया जिससे सारा राजनैतिक चक्र एकदम मुड़ गया।

दरबार में स्थित सिन्धिया के प्रतिनिधि अंग्रेजों के इस बढ़ते हुए प्रभाव से काफी सशंक हो रहे थे परन्तु वे कुछ कर ही नहीं सकते थे। वे महादजी के पास इस बात की बार बार सूचना भेज रहे थे कि वे इस स्थिति को सँभालें। ऐसी स्थिति में महादजी ने अपनी सारी

शक्ति लगाकर गोहद पर घेरा डालने का निर्देशन किया और अनूप गिरि जी से कहला भेजा कि वे दिल्ली-दरबार में अपने लोगों की खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करें। (इब्रात II, ६८)

अब इधर (नवम्बर १७८३ ई०) अनूप गिरि भी दिल्ली-दरबार की इस परिवर्तित स्थिति से भली भाँति परिचित हो गए थे। यह वह समय था जब कि ब्राउन दिल्ली से हट गया था। अफ्रासियाब भी राजधानी को जाते समय प्रायः उसके शिविर में आया करता था। इस समय गोसाईंजी ने वृन्दावन में, एक निमंत्रण में, इस नये रीजेन्ट को आमंत्रित किया और उसको ऐसा करने की सलाह दी जिससे सम्राट् उस पर सन्देह करने लगे। परन्तु इसका कुछ भी प्रभाव न हो सका। अफ्रासियाब ब्राउनस के साथ हँसी-खुशी से मिला और उन्हीं पुरानी बातों के आधार पर समझौते की बातचीत चलाता रहा जिनका मुख्य उद्देश्य एक दूसरे को आपत्ति-विपत्ति में मदद देना था।

ऐसी विषम परिस्थिति में, विपरीत दिशा में प्रवाहित होती हुई राजनीति की गति-विधि को रोकना कोई सरल कार्य नहीं था। गोसाईंजी ने इस समस्या को हल करने के लिए उस समय की मंत्रिपरिषद् का ही अन्त कर देना

उचित समझा । इसी समय एक ऐसी घटना घटित हुई जिससे उनको अपने विचार को कार्य रूप में परिणत करने का और अवसर मिल गया । १२ मई की रात है जब कि अफ्रासियाब के कार्यालय के मुख्य कमरे में पाँच व्यक्तियों को पकड़ लिया गया । ये व्यक्ति अपने साथ घातक अस्त्र लिये हुए थे और यहाँ पर इसलिए छिपे हुए थे कि अफ्रासियाब का सदा के लिए अन्त कर दें । लोगों को ऐसा सन्देह था कि इस षड्यन्त्र के पीछे मीर बख्शी—जो थोड़े दिनों पूर्व मार डाला गया था—के भाई जैनुल-आबदीन का मुख्य हाथ था । परन्तु गोसाईंजी ने इस कार्य के लिए अब्दुल अहद खाँ को दोषी ठहराया । इसी मास में गोसाईंजी ने मदौर के राजा पर आक्रमण कर, उसे पराजित कर अपनी स्थिति अच्छी कर ली थी । इसके बाद उन्होंने अफ्रासियाब के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि वह साम्राज्य में फैली हुई अशान्ति को दूर करने के लिए, कुछ दिन के लिए, सम्राट् को आगरे ले जाय । परन्तु इस प्रस्ताव पर अब्दुल अहद तथा अफ्रासियाब में आपस में मतभेद हो गया । अब्दुल अहद ने इस बात का विरोध करते हुए कहा कि इससे हमदनी के साथ होनेवाले शत्रुतापूर्ण व्यवहारों को और सहारा मिलेगा, उनमें वृद्धि होगी; दूसरे इससे गृहयुद्ध भी होने की आशंका है ।

हमदनी ने ऐसा करने से मुगल सरदार को मदद देना अच्छा समझा। उसने इन दक्षिणियों से, जो हमेशा से ही धूर्त होते आए हैं, अंग्रेजों से सहायता लेना अच्छा समझा। (देखिए गुलाम मुहम्मद २०८,२०९)

परन्तु रीजेन्ट ने इस बात की कुछ भी चिन्ता न करते हुए और उनको अपने रास्ते से हटाकर आगरा जाने का विचार किया। इधर हमदनी ने फिर हथियार सँभाले। उसने आगरा धौलपुर प्रदेश में एक स्वतंत्र ही राज्य स्थापित कर लिया था। सम्राट् का उधर जाना उसके लिए अपमानजनक था। अतः उसने सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह की आवाज बुलन्द कर दी और कामा नामक स्थान में भीषण अत्याचार और रक्तपात किया।

त्रयोदश अध्याय

राजनीति के दाव-पेंच

अब इस समय गोसाई अनूप गिरि को दोनों सरदारों को भड़काने के लिए अच्छा अवसर मिल गया। (इब्रात २, ८१) इसी समय महादजी ने भी आगरे में सम्राट् से मिलने की इच्छा प्रकट की। इधर जब गोसाईंजी मराठा सरदार के लिए नवीन समझौते की व्यवस्था करने में व्यस्त थे उसी समय जेम्स ब्राउन, जो कि शाहजादा जवानबख्त को दरबार में वापस लाने के लिए लखनऊ गया हुआ था, सन्धि का मसविदा लेकर जुलाई में दिल्ली वापस आ गया। अब ऐसा प्रतीत होने लगा कि गोसाईंजी को अपनी नीति में मात खानी पड़ेगी और सिन्धिया की बात पीछे रह जायगी किन्तु इस समय हमदनी के विरोध ने और ज़ोर पकड़ा। उसने जाट और मछेरी-राजाओं से सन्धि करके अलीनगर के जुल्फिकार खाँ पर आक्रमण कर दिया। मुग़लिया सरदार की इस प्रकार की विरोधी भावना को देख कर अफ्रासियाब ने गोसाईंजो के सन्धिवाले विचारों का पालन करना उचित समझा। उसने महादजी से सम-

झौता कर लिया। महादजी ने गोसाईंजी की सलाह पर अपने जनरल अम्बाजी इंगले को छः हजार की अश्वारोहिणी के साथ रीजेन्ट को सहायता देने के लिए भेज दिया। (अगस्त १७८४) इस समय घटनाचक्र ठीक उसी प्रकार चल रहा था जिस प्रकार सन् १७८३ की अक्तूबर में। उसी प्रकार की भयानक दुर्घटनाएँ फिर होनेवाली थीं किन्तु ऐसा न हो सका। जब सिन्धिया को अम्बाजी से यह ख़बर मिली कि अफ्रासियाब का व्यवहार उनके साथ अच्छा नहीं है और उसकी सेना में अनुशासन की बड़ी हीनता है तो महादजी के विचार बदल गए। फिर भी अम्बाजी को सितम्बर में पुनः आगे बढ़ने के लिए कहा गया। इसी बीच जब उन्होंने धौलपुर बारी को जीत लिया और उसे शाही नियंत्रण में देने से इन्कार कर दिया तो दोनों में फिर विरोध खड़ा हो गया। अफ्रासियाब ने गोसाईंजी के द्वारा सिन्धिया को यह कहला भेजा कि यदि ये जिले उसे वापस नहीं दिये जाते तो रूपबास में उसके तथा सिन्धिया के मिलने की कोई आवश्यकता नहीं।

स्थिति बड़ी गम्भीर हो गई। जिस इमारत को अनूप गिरिजी परिश्रम से खड़ी कर रहे थे, वह ढहती हुई सी दिखलाई पड़ने लगी और ऐसा प्रतीत होने लगा

कि उसके स्थान पर ब्रिटिश एजेंट द्वारा एक नई इमारत खड़ी हो जायगी, क्योंकि इस समय ब्राउन साहब ब्रिटिश सेनाओं को सम्राट् की सेवा में अर्पित करने के लिए समझौता कर रहे थे जिसके अनुसार जितने दिनों तक अंग्रेजी सेनाएँ सम्राट् के यहाँ रहतीं, उन्हें सम्राट् के कोष से निश्चित वेतन दिया जाता। इन शर्तों को एक नवीन सन्धि का रूप दिया गया, जिसका पहली नवम्बर को दृढ़ीकरण या समर्थन किया गया। परन्तु इसके केवल एक सप्ताह पूर्व (२३ अक्तूबर) अफ्रासियाब तथा सिन्धियाँ रूपवास में मिल चुके थे, और दूसरी नवम्बर को एंग्लो-मुगल-सन्धि के समर्थन के ठीक दूसरे ही दिन उस व्यक्ति का काम तमाम कर दिया गया जिस पर उस सन्धि को कार्य रूप में परिणत करने का सारा दारोमदार था।

राजनीतिक घटनाचक्र में इस प्रकार के आश्चर्य-जनक परिवर्तन का कारण गोसाईंजी की दूरदर्शिता तथा उनकी कूटनीतिज्ञता थी। सितम्बर में जब उन्होंने देखा कि महादजी अफ्रासियाब के पक्ष में हस्तक्षेप करने के विरुद्ध हैं, और बिना किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति के वे अफ्रा-सियाब को सैनिक सहायता नहीं देना चाहते तो उन्होंने इन दोनों सरदारों को मिलकर इन प्रश्नों के मित्रतापूर्ण ढंग से हल करने का प्रस्ताव रखा। परन्तु महादजी ने

इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। उनकी इस अस्वीकृति का अनूप गिरि जी को इतना धक्का लगा कि उन्होंने संसारी झगड़ों को त्यागकर पूर्ण रूप से संन्यस्त जीवन व्यतीत करने का विचार किया। वैसे तो संसार को इस प्रकार से त्यागना एक व्यक्तिगत बात थी, उसका राजनीति से कोई संबंध नहीं था; किन्तु सिन्धिया ने एक संन्यासी द्वारा इस प्रकार के आत्मत्याग की भावना को उचित नहीं समझा। उसने सोचा कि इस प्रकार के कार्य का दोष उसी के सिर पर आवेगा। अतएव सिन्धिया उस विचार से सहमत हो गया और उसने रीजेन्ट से मिलने की स्वीकृति दे दी। २३ अक्तूबर को दोनों सरदारों में रूपबास में भेंट हुई। धौलपुर बारी का अधिकार-संबंधी प्रश्न अब भी दोनों के मित्रतापूर्ण समझौते में रोड़ा अटका रहा था। महाद जी धौलपुर बारी को समर्पित करने में अपना अपमान समझते थे। उन्होंने अनूप गिरि से कहा था कि 'यदि मैं धौलपुर व अन्य स्थानों से अपने अधिकार को छोड़ अपनी सेना को वापस बुला लेता हूँ तो इसका प्रभाव सारे देश में दक्षिण तक बड़ा बुरा पड़ेगा। अफ्रासियाब से कह दो कि वह शीघ्र मेरे लिए धन की व्यवस्था करे।' जब सिन्धिया की अफ्रासियाब से भेंट हुई तो उन दोनों का व्यवहार बड़ा सौजन्यपूर्ण रहा। अफ्रासियाब

महादजी के व्यक्तित्व से इस प्रकार प्रभावित हुआ कि उनके साथ अपने पिता के तुल्य आदर-पूर्ण व्यवहार किया और उन्हें पिता कहकर ही सम्बोधित किया। गोसाईंजी ने इसी अवसर पर अफ़ासियाब को यह सलाह दी कि वह ये झगड़ेवाले जिले सिंधिया की पत्नी को, जो कि अब उसकी माँ के तुल्य थी, देकर झंझट का अन्त करे।

अफ़ासियाब ने ऐसा ही किया। उधर महादजी ने भी अपनी अश्वारोहिणी को आगे बढ़कर हमदनो के डेरों को घेरने की आज्ञा दे दी। यह बात ३१ अक्टूबर की है। इसके दूसरे ही दिन अंग्रेजों के साथ होनेवाली सन्धि को दृढ़ किया गया। इस सन्धि में यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया था कि शाहजादा जहाँदार के पास ठहरी हुई अंग्रेजी सेनाएँ अब से सम्राट् की सेवा में अर्पित की जाती हैं। इसके दूसरे दिन २ नवम्बर को अफ़ासियाब खाँ का, उनके ही शिविर में, बुरी तरह वध कर डाला गया और अंग्रेजों के साथ होनेवाले सन्धिपत्र की स्याही भी सूख न पाई थी, कि वह सन्धि निरर्थक हो गई। उसका कोई महत्त्व न रह गया।

इस प्रकार एक एक करके नजफ खाँ के दोनों अनुयायी काल-कवलित कर लिये गए परन्तु हमदनी अब भी एक शक्तिशाली सेना लिये हुए मराठों तथा नेतृत्व-

होन दिल्ली की सेना का बहादुरी से सामना कर रहा था। सम्राट् का दिल दया से भर गया। उन्होंने सिन्धिया को यह लिख भेजा कि 'हमदनी एक अच्छा योद्धा है। आप उसका सर्वनाश मत कीजिये। उससे संकट के समय कभी किसी युद्ध में अच्छा लाभ हो सकता है।' अब प्रश्न यह था कि क्या वह अफ़ासियाब के सैन्यदल को मिलाकर स्वयं रीजेन्ट बनेगा, अथवा महादजी अपने सैन्यबल के प्रदर्शन से विद्रोहियों को शान्त कर अफ़ासियाब के रिक्त स्थान की पूर्ति करेगा। इस समय महादजी के खिलाफ़ इतने लोग थे, और मराठा सेनाओं के विरोध में लोगों की विरोधी भावना इतनी अधिक थी कि दिल्ली पर वे स्वयं अपना नियंत्रण रखने से दूर ही रहना चाहते थे। इस संबंध में उन्होंने हमदनी के वकील से कहा था कि यदि सम्राट् के मंत्री बनने की मेरी कोई इच्छा होती तो क्या अब से कितने ही दिन पूर्व मुझे इसका अवसर नहीं मिला? इस समय भी मेरे दिल में ऐसी कोई इच्छा नहीं है। इन शब्दों को कहे हुए मुश्किल से अभी छः सप्ताह बीते थे कि उन्हें वकील मुतलक का पद सौंप दिया गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सिन्धिया अपनी असाधारण प्रतिमा और दूरदर्शिता के बल पर इस उच्च पद

पर पहुँचे थे किन्तु इस समय (नवम्बर) वे जिस आधार पर खड़े हुए थे और जिन व्यक्तियों से उन्हें काम निकालना था वे इतने अविश्वसनीय थे कि ज़रा से प्रतिकूल वायु के झोंके से महादजी को अपने पद से हाथ धोना पड़ता और उन्हें अपने विनाश के दिन देखने पड़ते। ऐसी विकट परिस्थिति में गोसाईंजी ने उनका अच्छा साथ दिया और उनके प्रगति के पथ में आनेवाले रोड़ों के हटाने में वे सदैव तत्पर रहे।

दलों को भेज दिया था। शाही सेना के संबंध में महा
जी की स्वयं अच्छी जानकारी थी, तोपखाने के कमाण्ड
बैजेद खाँ से भी उनका संबंध था। इस प्रकार मुगल
मराठा सैन्य-दल संगठित रूप में महादजी के हाथ में था
इस शक्तिशाली सेना तथा गोसाईंजी के तोपखाने के बल
पर ही महादजी ने हमदनी को नीचा दिखाया और उसे
१० नवम्बर को उनके आगे झुकना पड़ा।

इस प्रबल विरोधी को दबाने के पश्चात् गोसाईंजी ने
अन्य विरोधी तत्त्वों को भी निकाल कर महादजी को राज
के सर्वोच्च पद पर निष्कंटक रूप से शासन करने के लिए
रास्ता साफ कर दिया। इन विरोधी तत्त्वों में से अब्दुल
अहद खाँ भी एक प्रबल शत्रु था वह शाह आलम की
आज्ञा के अनुसार अलीगढ़ जेल से छोड़ दिया गया था
इस बार सिन्धिया ने यह घोषित किया कि 'खदीम हुसेन
को मीर बख्शी बना कर मैं स्वयं दक्षिण चला जाकर वह
शान्ति-पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ।' जब आगरे
के किलेदार शुजादिलखाँ ने, जो कि खदीम हुसेन का बाप
था, यह बात सुनी, तो अपने पौत्र की उन्नति के लिए
उसने यह इरादा कर लिया कि जैसे ही अब्दुल अहद
यहाँ आता है उसे कैद कर लिया जायगा। उधर खदीज
बेगम शाहजादा सुलेमान शुकोह को यह पद दिलाने क

पर पहुँचे थे किन्तु इस समय (नवम्बर) वे जिस आधार पर खड़े हुए थे और जिन व्यक्तियों से उन्हें काम निकालना था वे इतने अविश्वसनीय थे कि ज़रा से प्रतिकूल वायु के झोंके से महादजी को अपने पद से हाथ धोना पड़ता और उन्हें अपने विनाश के दिन देखने पड़ते। ऐसी विकट परिस्थिति में गोसाईंजी ने उनका अच्छा साथ दिया और उनके प्रगति के पथ में आनेवाले रोड़ों के हटाने में वे सदैव तत्पर रहे।

२ नवम्बर को ग्यारह बजे अफ़ासियाब खाँ का हत्याकांड हुआ था। इस दुर्घटना के चार घन्टे के अन्दर ही महादजी गोसाईंजी के शिविर में आ पहुँचे। इसी दौरान में उन्होंने गोसाईंजी से सलाह लेकर हमदनी के विनाश के लिए एक योजना बनाई। अफ़ासियाब खाँ की हत्यावाले ही दिन गोसाईंजी के निर्देशन के अनुसार महादजी ने अपने दो हजार अश्वारोहियों को शाही शिविर के आसपास छोड़ दिया था जिससे कि वे हमदनी को, जिसने कि इस समय साम्प्रदायिकता की भावना फैला कर लोगों को अपनी ओर मिलाने का अच्छा प्रयत्न कर लिया था, उचित उत्तर दे सकें। उधर गोसाईंजी ने महादजी की सेना को और बलवती बनाने के लिए अपने तथा अफ़ासियाब खाँ के काश्मीरी दीवान नारायणदास के सैनिक

दलों को भेज दिया था। शाही सेना के संबंध में महादजी की स्वयं अच्छी जानकारी थी, तोपखाने के कमाण्डर बैजेद खाँ से भी उनका संबंध था। इस प्रकार मुगल-मराठा सैन्य-दल संगठित रूप में महादजी के हाथ में था। इस शक्तिशाली सेना तथा गोसाईंजी के तोपखाने के बल पर ही महादजी ने हमदनी को नीचा दिखाया और उसे १० नवम्बर को उनके आगे झुकना पड़ा।

इस प्रबल विरोधी को दबाने के पश्चात् गोसाईंजी ने अन्य विरोधी तत्त्वों को भी निकाल कर महादजी को राज्य के सर्वोच्च पद पर निष्कटंक रूप से शासन करने के लिए रास्ता साफ कर दिया। इन विरोधी तत्त्वों में से अब्दुल अहद खाँ भी एक प्रबल शत्रु था वह शाह आलम की आज्ञा के अनुसार अलीगढ़ जेल से छोड़ दिया गया था। इस बार सिन्धिया ने यह घोषित किया कि 'खदीम हुसेन को मीर बख्शी बना कर मैं स्वयं दक्षिण चला जाकर वहाँ शान्ति-पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ।' जब आगरे के किलेदार शुजादिलखाँ ने, जो कि खदीम हुसेन का बाबा था, यह बात सुनी तो अपने पौत्र की उन्नति के लिए उसने यह इरादा कर लिया कि जैसे ही अब्दुल अहद यहाँ आता है उसे कैद कर लिया जायगा। उधर खदीजा बेगम शाहजादा सुलेमान शुकोह को यह पद दिलाने का

पर पहुँचे थे किन्तु इस समय (नवम्बर) वे जिस आधार पर खड़े हुए थे और जिन व्यक्तियों से उन्हें काम निकालना था वे इतने अविश्वसनीय थे कि जरा से प्रतिकूल वायु के झोंके से महादजी को अपने पद से हाथ धोना पड़ता और उन्हें अपने विनाश के दिन देखने पड़ते। ऐसी विकट परिस्थिति में गोसाईंजी ने उनका अच्छा साथ दिया और उनके प्रगति के पथ मे आनेवाले रोड़ों के हटाने में वे सदैव तत्पर रहे।

२ नवम्बर को ग्यारह बजे अफ्रासियाब ख़ाँ का हत्याकांड हुआ था। इस दुर्घटना के चार घन्टे के अन्दर ही महादजी गोसाईंजी के शिविर में आ पहुँचे। इसी दौरान मे उन्होंने गोसाईंजी से सलाह लेकर हमदनी के विनाश के लिए एक योजना बनाई। अफ्रासियाब ख़ाँ की हत्यावाले ही दिन गोसाईंजी के निर्देशन के अनुसार महादजी ने अपने दो हजार अश्वारोहियों को शाही शिविर के आस-पास छोड़ दिया था जिससे कि वे हमदनी को, जिसने कि इस समय साम्प्रदायिकता की भावना फैला कर लोगों को अपनी ओर मिलाने का अच्छा प्रयत्न कर लिया था, उचित उत्तर दे सकें। उधर गोसाईंजी ने महादजी की सेना को और बलवती बनाने के लिए अपने तथा अफ्रासियाब ख़ाँ के काश्मीरी दीवान नारायणदास के सैनिक

दलों को भेज दिया था। शाही सेना के संबंध में महादजी की स्वयं अच्छी जानकारी थी, तोपखाने के कमाण्डर वैजेद खाँ से भी उनका संबंध था। इस प्रकार मुगल-मराठा सैन्य-दल संगठित रूप में महादजी के हाथ में था। इस शक्तिशाली सेना तथा गोसाईंजी के तोपखाने के बल पर ही महादजी ने हमदनी को नीचा दिखाया और उसे १० नवम्बर को उनके आगे झुकना पड़ा।

इस प्रबल विरोधी को दबाने के पश्चात् गोसाईंजी ने अन्य विरोधी तत्त्वों को भी निकाल कर महादजी को राज्य के सर्वोच्च पद पर निष्कंटक रूप से शासन करने के लिए रास्ता साफ कर दिया। इन विरोधी तत्त्वों में से अब्दुल अहद खाँ भी एक प्रबल शत्रु था वह शाह आलम की आज्ञा के अनुसार अलीगढ़ जेल से छोड़ दिया गया था। इस बार सिन्धिया ने यह घोषित किया कि 'खदीम हुसेन को मीर बख्शी बना कर मैं स्वयं दक्षिण चला जाकर वहाँ शान्ति-पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ।' जब आगरे के किलेदार शुजादिलखाँ ने, जो कि खदीम हुसेन का बाबा था, यह बात सुनी, तो अपने पौत्र की उन्नति के लिए उसने यह इरादा कर लिया कि जैसे ही अब्दुल अहद यहाँ आता है उसे क़ैद कर लिया जायगा। उधर खदीजा बेगम शाहजादा सुलेमान शुकोह को यह पद दिलाने का

पर पहुँचे थे किन्तु इस समय (नवम्बर) वे जिस आधार पर खड़े हुए थे और जिन व्यक्तियों से उन्हें काम निकालना था वे इतने अविश्वसनीय थे कि जरा से प्रतिकूल वायु के झोंके से महादजी को अपने पद से हाथ धोना पड़ता और उन्हें अपने विनाश के दिन देखने पड़ते। ऐसी विकट परिस्थिति में गोसाइंजी ने उनका अच्छा साथ दिया और उनके प्रगति के पथ में आनेवाले रोड़ों के हटाने में वे सदैव तत्पर रहे।

२ नवम्बर को ग्यारह बजे अफ्रासियाब खाँ का हत्याकांड हुआ था। इस दुर्घटना के चार घन्टे के अन्दर ही महादजी गोसाइंजी के शिविर में आ पहुँचे। इसी दौरान में उन्होंने गोसाइंजी से सलाह लेकर हमदनी के विनाश के लिए एक योजना बनाई। अफ्रासियाब खाँ की हत्यावाले ही दिन गोसाइंजी के निर्देशन के अनुसार महादजी ने अपने दो हजार अश्वारोहियों को शाही शिविर के आसपास छोड़ दिया था जिससे कि वे हमदनी को, जिसने कि इस समय साम्प्रदायिकता की भावना फैला कर लोगों को अपनी ओर मिलाने का अच्छा प्रयत्न कर लिया था, उचित उत्तर दे सकें। उधर गोसाइंजी ने महादजी की सेना को और बलवती बनाने के लिए अपने तथा अफ्रासियाब खाँ के काश्मीरी दीवान नारायणदास के सैनिक

दलों को भेज दिया था। शाही सेना के संबंध में महादजी की स्वयं अच्छी जानकारी थी, तोपखाने के कमाण्डर बैजेद खाँ से भी उनका संबंध था। इस प्रकार मुगल-मराठा सैन्य-दल संगठित रूप में महादजी के हाथ में था। इस शक्तिशाली सेना तथा गोसाईंजी के तोपखाने के बल पर ही महादजी ने हमदनी को नीचा दिखाया और उसे १० नवम्बर को उनके आगे झुकना पड़ा।

इस प्रबल विरोधी को दबाने के पश्चात् गोसाईंजी ने अन्य विरोधी तत्त्वों को भी निकाल कर महादजी को राज्य के सर्वोच्च पद पर निष्कटंक रूप से शासन करने के लिए रास्ता साफ कर दिया। इन विरोधी तत्त्वों में से अब्दुल अहद खाँ भी एक प्रबल शत्रु था वह शाह आलम की आज्ञा के अनुसार अलीगढ़ जेल से छोड़ दिया गया था। इस बार सिन्धिया ने यह घोषित किया कि 'खदीम हुसेन को मीर बख्शी बना कर मैं स्वयं दक्षिण चला जाकर वहाँ शान्ति-पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ।' जब आगरे के किलेदार शुजादिलखाँ ने, जो कि खदीम हुसेन का बाबा था, यह बात सुनी तो अपने पौत्र की उन्नति के लिए उसने यह इरादा कर लिया कि जैसे ही अब्दुल अहद यहाँ आता है उसे क़ैद कर लिया जायगा। उधर खदीजा बेगम शाहजादा सुलेमान शुकोह को यह पद दिलाने का

पर पहुँचे थे किन्तु इस समय (नवम्बर) वे जिस आधार पर खड़े हुए थे और जिन व्यक्तियों से उन्हें काम निकालना था वे इतने अविश्वसनीय थे कि जरा से प्रतिकूल वायु के झोंके से महादजी को अपने पद से हाथ धोना पड़ता और उन्हें अपने विनाश के दिन देखने पड़ते। ऐसी विकट परिस्थिति में गोसाईंजी ने उनका अच्छा साथ दिया और उनके प्रगति के पथ मे आनेवाले रोडों के हटाने में वे सदैव तत्पर रहे !

२ नवम्बर को ग्यारह बजे अफ्रासियाब खाँ का हत्याकांड हुआ था। इस दुर्घटना के चार घन्टे के अन्दर ही महादजी गोसाईंजी के शिविर में आ पहुँचे। इसी दौरान मे उन्होंने गोसाईंजी से सलाह लेकर हमदनी के विनाश के लिए एक योजना बनाई। अफ्रासियाब खाँ की हत्यावाले ही दिन गोसाईंजी के निर्देशन के अनुसार महादजी ने अपने दो हजार अश्वारोहियों को शाही शिविर के आसपास छोड़ दिया था जिससे कि वे हमदनी को, जिसने कि इस समय साम्प्रदायिकता की भावना फैला कर लोगों को अपनी ओर मिलाने का अच्छा प्रयत्न कर लिया था, उचित उत्तर दे सकें। उधर गोसाईंजी ने महादजी की सेना को और बलवती बनाने के लिए अपने तथा अफ्रासियाब खाँ के काश्मीरी दीवान नारायणदास के सैनिक

दलों को भेज दिया था। शाही सेना के संबंध में महादजी की स्वयं अच्छी जानकारी थी, तोपखाने के कमाण्डर वैजेद खाँ से भी उनका संबंध था। इस प्रकार मुगल-मराठा सैन्य-दल संगठित रूप में महादजी के हाथ में था। इस शक्तिशाली सेना तथा गोसाईंजी के तोपखाने के बल पर ही महादजी ने हमदनी को नीचा दिखाया और उसे १० नवम्बर को उनके आगे झुकना पड़ा।

इस प्रबल विरोधी को दबाने के पश्चात् गोसाईंजी ने अन्य विरोधी तत्त्वों को भी निकाल कर महादजी को राज्य के सर्वोच्च पद पर निष्कंटक रूप से शासन करने के लिए रास्ता साफ कर दिया। इन विरोधी तत्त्वों में से अब्दुल अहद खाँ भी एक प्रबल शत्रु था वह शाह आलम की आज्ञा के अनुसार अलीगढ़ जेल से छोड़ दिया गया था। इस बार सिन्धिया ने यह घोषित किया कि 'खदीम हुसेन को मीर बख्शी बना कर मैं स्वयं दक्षिण चला जाकर वहाँ शान्ति-पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ।' जब आगरे के किलेदार शुजादिलखाँ ने, जो कि खदीम हुसेन का बाबा था, यह बात सुनी, तो अपने पौत्र की उन्नति के लिए उसने यह इरादा कर लिया कि जैसे ही अब्दुल अहद यहाँ आता है उसे कैद कर लिया जायगा। उधर खदीजा बेगम शाहजादा सुलेमान शुकोह को यह पद दिलाने का

प्रयत्न कर रही थी। दिल्ली में शाहज़ादा जवानबख्त का ब्रिटिश एजएट से झगड़ा चल रहा था। इन सब बातों को देखकर शाहज़ादा घबड़ा उठा और उसने अपने हितों को सिन्धिया सरदार के हाथों में सौंप देना उचित समझा। इन बातों के परिणामस्वरूप सिन्धिया तथा सम्राट् में मैत्री हुई। महाद जी सिन्धिया सन् १७८४ की पहली दिसम्बर को वकीले-मुतलक़ नियुक्त किया गया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि गोसाईंजी ने इस प्रकार का अथक परिश्रम तथा कूटनीति का काम केवल निःस्वार्थ भाव से किया, ऐसी बात नहीं। उनके ऐसा करने में, सिन्धिया को इस सर्वोच्च पद पर पहुँचाने में उनका भी स्वार्थ निहित था। अफ्रासियाब के पश्चात् महादजी को आगे रखकर, गोसाईंजी ही दिल्ली के कर्त्ता धर्त्ता बन गए। यह बात गवर्नर-जनरल को भेजे गए एक पत्र द्वारा और स्पष्ट हो जाती है। उसमें लिखा कि "अफ्रासियाब खाँ का एक नाबालिग पुत्र बख्शी नियुक्त कर दिया गया है, परन्तु वास्तव में उस-पद का सारा नियंत्रण गोसाईं हिम्मत बहादुर अनूप गिरि के हाथ में है।" (सी० पी० सी० VI, १४२३, इब्रात II ६१) सन् १७८४ के नवम्बर से प्रारम्भ होनेवाला तथा १७८५ के मार्च के मध्य में समाप्त होनेवाला समय गोसाईंजी के जीवन का बड़ा महत्त्वपूर्ण समय है। इस

सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिये कि जिन अनूप गिरि के संबंध में पहले (१६ नवम्बर से पहले जब कि प्रथम बार सिंधिया तथा शाह आलम का मिलन हुआ था) सिंधिया को विश्वास नहीं था, उसने शाह आलम को अनूप गिरि से सावधान रहने को कहा था, उन्हीं अनूप गिरि की सहायता से वह राज्य के सर्वोच्च पद पर आसीन हो सका, और बाद में वे ही उसके विश्वास के सबसे बड़े पात्र थे। सिंधिया और सम्राट् के मिलन का जो परिणाम हुआ उस पर हम यहाँ कुछ प्रकाश डाल चुके। अगले अध्याय में हम इस संबंध में और विचार करेंगे।

चतुर्दश अध्याय

हमारे राजाओं के अधीनस्थ सैनिक सेवाएँ

इस पुस्तक में राजेन्द्र गिरि गोसाईं तथा उनके शिष्यों के कार्य-वृत्त पर पूर्ण विस्तार से प्रकाश डाला गया है। कारण यह है कि राजाओं और सामन्तों की भाँति उन्होंने भी भारतीय इतिहास में लम्बे अर्से तक एक महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। अवध के नवाबों, मराठा राजा तथा दिल्ली के सम्राट् ने उनके महत्त्व को भली भाँति समझा था और उनकी सहायता से अच्छा लाभ भी उठाया था। परन्तु अन्य कोई भी दशनामी नेता न तो उनसे अधिक शक्ति पा सका और न उनसे (राजेन्द्र गिरि से) ऊँचा पद। संन्यासियों के कितने ही दलों, उनके कितने ही महन्तों ने राजपूताना, गुजरात तथा अन्य राज्यों के राजाओं को महत्त्वपूर्ण सैनिक सहायता प्रदान की थी और इसके पुरस्कार-स्वरूप उन्हें काफी भूमि तथा वार्षिक अनुदान भी स्वीकृत किए गए थे। इन रियासतों के अभिलेख इस बात के साक्षी हैं। यद्यपि ये लोग हिम्मत बहादुर के

समान सामन्तों के उच्च पद पर आसीन न हो सके किन्तु दशनामियों के इस सामान्य इतिहास में भी यदि उनके कार्यों का उल्लेख न किया जाय तो सत्य के रक्षार्थ उन्होंने अपना जो शौर्य प्रदर्शित किया, जिस विश्वसनीयता का परिचय दिया, वह हमेशा के लिए विस्मृति के गर्त में मिल जायगी। इस सम्बन्ध में हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उनकी विश्वसनीयता और शौर्य के जो कार्य थे वे विभिन्न राज्यों में मिल गए थे और इन लड़ाइयों का विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं है; क्योंकि सामन्तों की रियासतों के जो अभिलेख हैं उनका भली भाँति अनुसन्धान नहीं किया गया है। यदि उनका ठीक तौर पर अनुसन्धान करके उनकी अनुक्रमणिका बना दी जाती तो इतिहास के खोजी विद्यार्थियों के लिए उसका बड़ा उपयोग होता।

दशनामियों के साथ हिन्दुओं के धार्मिक योद्धाओं ने राजपूताना तथा मालवा के युद्धों में भाग लिया था। परन्तु विस्तृत अभिलेखों के अभाव के कारण नागाओं तथा अ-नागाओं द्वारा लिये गए भाग और उनके सरदारों के नामों का उल्लेख करना सम्भव नहीं। इस सम्बन्ध में हमें जो सामग्री फारसी, मराठी तथा हिन्दी पाण्डु-लिपियों से प्राप्त होती है वह यह है कि गोसाइयों तथा

वैरागियों—कुछ को रामानन्दी तथा विष्णुस्वामी कहा जाता है—ने हमारे राजाओं के रक्षार्थ महापुरुषों या गोसाइयों जैसे सामान्य नामवाले लोगों के अधीन होकर युद्ध किया और उनके कार्यों का जो परिणाम निकला उसका उल्लेख हमारे पुराने इतिहास में है। मैंने इस खण्ड में ऐसे सभी हिन्दू धार्मिक योद्धाओं पर प्रकाश डाला है। परन्तु पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें से कुछ योद्धा दशनामियों के संघ के बाहर के थे। किन्तु यह कोई बात नहीं। हिन्दुओं की धार्मिक एवं सैनिक भावना एक समान ही रही है, चाहे साधुओं का नाम या उनकी वेशभूषा कैसी भी क्यों न रही हो।

राजपूताना में

टाड ने राजपूताना के गोसाइयों का इस प्रकार वर्णन किया है—गोसाइयों के कई वर्ग हैं जिन्होंने यद्यपि आध्यात्मिकता को अपना लिया है फिर भी वाणिज्य-व्यवसाय तथा सेना जैसे धर्म-निरपेक्ष कार्यों को वे करते हैं। व्यापारी गोसाईं भारत के सबसे धनी व्यक्तियों में हैं। वे गोसाईं जी सैनिक बाने को मानते हैं। वे जेरूसलम के सेन्ट जान के सामन्तों की भाँति कार्य करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। वे भारत में फैले हुए मठों में रहते हैं। उनके पास भूमि इत्यादि भी है और जब उनकी सेवाएँ माँगी

जाती हैं तो भिक्षा या वैतनिक रूप में वे अपना पारिश्रमिक लेकर अपनी सेवाएँ अर्पित करते हैं। रक्षक सैनिकों के रूप में वे काफी सफल रहे हैं। मेवाड़ में सैकड़ों कनफटे जोगियों को वे नीचा दिखा देते हैं। कवि चन्द बरदाई ने कन्नौज के राजा के अंगरक्षकों का वर्णन किया है, जो कि इन्हीं संन्यासी योद्धाओं का था। (टाडकृत राजस्थान, प्रथम खण्ड, मेवाड़, अध्याय १६)।

जोधपुर में

महाराजा अभयसिंह की मृत्यु १७४६ में हो गई थी और उनके बाद उनका जवान और लापरवाह बेटा गद्दी पर बैठा। परन्तु अगले ही वर्ष जोधपुर में ये नए महाराज उन सामन्तों द्वारा, जिन्हें उन्होंने अपमानित किया, गद्दी से उतार दिये गए और उनके बाद उनका छोटा भाई भक्तसिंह गद्दी पर बैठाया गया। जब सितम्बर सन् १७५२ में भक्तसिंह परलोक सिधारे और उनका पुत्र विजयसिंह गद्दी पर बैठा तब रामसिंह ने उससे लड़ने के लिए मराठों की सेना को भाड़े पर लिया। १७५४ ई० में श्री जयअप्पा सिन्धिया के नेतृत्व में एक विशाल मराठा सेना ने मारवाड़ पर आक्रमण किया। विजयसिंह के निवेदन पर दस हजार गोसाइयों का एक दल कुम्मन-

गढ़ से उनके रक्षार्थ आ गया। यह दल नौ बेड़ों में विभक्त था और प्रत्येक बेड़े का अपना-अपना झण्डा था। मटी के निकट होनेवाले भीषण युद्ध में विजयसिंह पराजित हुआ परन्तु गोसाइयों ने उसे अपने पूर्वजों की जागीर नागौर में सुरक्षापूर्वक पहुँचा दिया। इसके पश्चात् मराठों ने नागौर पर आक्रमण किया जिसकी रक्षा राजपूतों तथा गोसाइयों ने मिल कर की।

नागौर का यह घेरा एक वर्ष तक चलता रहा। उदयपुर के महाराणा ने इन दोनों दलों में सन्धि कराने के लिए विजय भारती नाम के एक पुण्यात्मा गोसाई को विजयअप्पा के शिविर में भेजा। परन्तु २६ जुलाई १७५५ को मारवाड़ दरबार द्वारा सहायता प्राप्त दो हत्यारों ने विश्वासघात करके जयअप्पा का वध कर डाला। इससे मराठों का खून खौल उठा। उन्होंने अपने शिविर में उपस्थित प्रत्येक राजपूत तथा निर्दोष विजय भारती को भी मौत के घाट उतार दिया। जो नौ बेड़े विजयसिंह के रक्षार्थ आए थे उनमें से चार स्थायी सेवकों के रूप में जोधपुर राज्य की सेवा में रह गए। इन चार बेड़ों के नाम इस प्रकार थे :—नागौर में भारती-ध्वज, पुरी-ध्वज की एक शाखा फतहसागर में, दूसरी जालौर में, तथा तीसरी थाम्वला में। अन्य पाँचों बेड़ों में से कुछ

तो जैसलमेर गए और कुछ मेवाड़ चले गए जहाँ वे अब भी हैं

बाद में नाथ-द्वारा-मन्दिर के वैष्णव महन्त से विजय-सिंह ने दीक्षा ले ली। विजयसिंह समय-समय पर उस पवित्र स्थान पर, जहाँ महापुरुष सैनिक प्रभु की इस मूर्ति के पुश्तैनी रक्षक थे, दर्शनार्थ आया करता। इन गोसाईं सैनिकों की विश्वसनीयता तथा बहादुरी से विजयसिंह बड़ा प्रसन्न था तथा उनकी कवायद और वर्दी आदि का सुधार करने में उसे बड़ा आनन्द आता था। सन् १७८० के लगभग इन गसाइयों की एक अच्छी संख्या को उसने राज्य की स्थायी सेना में भर्ती कर लिया। मारवाड़ राज्य का इतिहास यह बतलाता है कि ये महा-पुरुष सबसे अधिक सस्ते, परिश्रमी और सबसे अधिक विश्वसनीय योद्धा थे। वे केवल तीन-साढ़े तीन रुपए तक वेतन-स्वरूप पाते थे। इसके अतिरिक्त सरकार उन्हें मुफ्त में अस्त्र-शस्त्र तथा उनके अश्वों के लिए अनाज और चारा आदि देती थी। उनके कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख नीचे किया जाता है।

सन् १७८४ और १७९३ ई० के बीच में मारवाड़ राज्य के दक्षिण-पूर्व में स्थित गौदवार तथा अरावली की जंगली और अपराधी जातियों को अपने अधीन करने

लिए उन्होंने कई लड़ाइयाँ लड़ीं। उन्होंने विजयसिंह को पश्चिम रेगिस्तान की जंगली जातियों को रोकने और अमरकोट के दुर्ग तथा जैसलमेर राज से कुछ प्रदेश लेने में पूरी सहायता प्रदान की। वास्तव में नागाओं ने राजपूत सेना के दो बड़े दोष दूर करने में सहायता पहुँचाई। उन्होंने एक तो स्थिरता प्रदान की जो कि राठौर अश्वारोहियों में नहीं थी, दूसरे बारूद इत्यादि वाले अस्त्रों का उपयोग कर उन्होंने नया मार्ग प्रदर्शित किया। राजपूतों ने ऐसे अस्त्रों के उपयोग की उपेक्षा इसलिए की थी कि वे उनको योद्धाओं के लिए उचित न मानते थे।

सन् १७८७ ई० में जब महादजी सिन्धिया ने जयपुर पर आक्रमण किया और लालसर में डेरा डाला तब जोधपुर के महाराजा ने गोसाइयों की एक सुसंगठित एवं सुदृढ़ सेना रक्खी जो उनके मित्र कछवाहा राजा के रक्षार्थ सहायता पहुँचा सके। तुंगा के युद्ध में इन गोसाइयों ने बड़ी वीरता से युद्ध किया और ३५ अग्निबाण छोड़कर मराठा अश्वारोहियों को रोक दिया। दिन के अवसान पर निराश होकर सिन्धिया को भाग जाना पड़ा। इन नागा साधुओं ने जयपुर के राजा की ओर से दिबोयाँ व जीव दादा—जो सिन्धिया के सरदार थे—के विरुद्ध पाटन की लड़ाई में (जून १७९० ई०) बड़ी बहादुरी से मोर्चा लिया

था। युद्ध में उन्होंने होल्कर से भिड़कर उसको रोका था। १० सितम्बर १७९० ई० को होनेवाली मटी की लड़ाई में जोधपुर-राजा की ओर से रामानन्दी तथा विष्णु स्वामी साधुओं ने भी भाग लिया था।*

नवम्बर सन् १७९१ ई० में विजयसिंह के जो वृद्ध और कमज़ोर होने के कारण कुछ सनकी भी हो गए थे, अपनी रखैल के पुत्र को उसी की गोद में बैठाकर सामन्तों को उसके सामने झुकाकर प्रणाम करने के लिए बाध्य कर, अपनी रखैल को प्रसन्न करना चाहा। इस पर मारवाड़ में एक विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। सारे सामन्तों ने अपने दल सहित, जो करीब ८०,००० राठौरों से युक्त कहा जाता है, दरबार को छोड़ दिया। वे एक दूसरे राजकुमार भीमसिंह को महाराजा बनाने के लिए एकत्रित हुए। परन्तु विजयसिंह को महापुरुषों से सहायता मिली। उन्होंने विद्रोही सरदारों से लड़ कर विजयसिंह को सुरक्षित रूप से राजधानी तक पहुँचाया। जब विजयसिंह की मृत्यु ८ जुलाई १७९३ को हो गई तो भीमसिंह जोधपुर की गद्दी पर बैठाया और जालौर के मानसिंह के विरुद्ध हथियार उठा लिये। भीमसिंह के जालौर के इस आक्रमण में महन्त गुलाब पुरी ने अपनी

* देखिये यदुनाथ सरकार कृत 'मुग़ल साम्राज्य का पतन', खण्ड ४, अध्याय ३८

अमूल्य सेवाएँ अर्पित कीं। इसके लिए उनके शिष्य मोती पुरी को मटी परगना में लम्बा माला नामक ग्राम पुरस्कार में दिया गया।

नवम्बर सन् १८०४ में भीमसिंह की मृत्यु हो गई और मानसिंह को मारवाड़ की गद्दी मिल गई। परन्तु उनका मुख्य सरदार पोखरां का सवाईसिंह उनका विरोधी हो गया। उसने जिगौली की घाटी में उन्हें धोखा, देकर बुलाकर मार डालने का षडयन्त्र रचा। परन्तु कुछ विश्वासी सामन्तों के कारण उसका यह कुप्रयत्न निष्फल रहा। महन्त बुद्ध भारती, दौलत पुरी और मोती पुरी के नेतृत्व में महापुरुषों के दल ने कुछ विश्वासी सरदारों के साथ विद्रोहियों से युद्ध किया और इस प्रकार मानसिंह को शत्रुओं के चंगुल से छुड़ाकर सुरक्षापूर्वक जोधपुर तक पहुँचा दिया। महन्त मोती पुरी ने उनकी ध्वजा, माही-मरातिब तथा उनकी मूर्ति और पूजा की सामग्री को ले जानेवाले हाथी की रक्षा कर उसे शत्रुओं के हाथ में जाने से रोका और जोधपुर पहुँचाया। इसके लिए महन्त दौलत पुरी के सम्मानार्थ एक परवाना मिला, जिसमें महाराजा की निजी सील थी। इन महन्त ने जोधपुर-राजा की आज्ञा से सिरोही पर कई बार आक्रमण किया।

सन् १८१५ में महापुरुषों के दल को देसुरी भेजा

गया, जहाँ होनेवाले उपद्रव को उसने योग्यतापूर्वक शान्त किया। महन्त बरज पुरी (वाड़ावाले), मोती पुरी के शिष्य सुखदेव पुरी (अखाड़ावाले) तथा भगवान पुरी के शिष्य सन्तोष पुरी को अपने ३५००० व्यक्तियों को रखने के लिए देसुरी के कोष से ७००० रुपया प्रतिमास दिया जाने लगा। (अगस्त, १८१५) इसके बाद की उनकी सेवाओं के वर्णन करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं।

मेवाड़ राज्य में गोसाइयों का एक दल रखा गया, जिसकी सहायता के लिए कुछ भूमि भी स्वीकार की गई।

जैसलमेर में

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस राज्य के बीकानेर के साथ होनेवाले युद्ध में महन्त भैरो पुरी (सूर्यप्रकाश झण्डावाले) तथा महन्त सावन्त पुरी के नेतृत्व में गोसाइयों के एक दल ने कोट विक्रमपुर के आक्रमण को, अपने दो बहादुर सरदारों तथा पन्द्रह सिपाहियों को जान न्योछावर कर, निष्फल कर दिया। सन् १८४० में यश गिरि नाम के एक गोसाईं को जैसलमेर की सेनाओं का अधिनायक नियुक्त किया गया। उन्होंने ३० वर्ष तक राज्य की सेना में पठान, सिक्ख तथा गोसाईं दलों का नियन्त्रण किया।

पंचदश अध्याय

अन्य प्रान्तों में कर्तव्य-पालन

बड़ोदा में

नाना फड़नवीस पूना के पेशवा के संरक्षक थे। उन्होंने अपने प्रतिनिधि अबा शेल्कर को गुजरात की भेंट के पेशवा के हिस्से को एकत्रित करने के लिए भेजा। इस व्यक्ति ने बड़ी कठोरता तथा अन्याय से पैसा वसूल करना शुरू किया। उसने बड़ौदा के राजा गोविन्द राव गायकवाड़ की सत्ता तक को अवहेलना करना आरम्भ किया। वास्तव में अबा शेल्कर ने वहाँ की स्थायी सरकार को ही उखाड़ फेंका और कितने ही स्थानों को लूटते हुए सारे सूबे को आतंकित कर दिया। उसने १५००० पैदल तथा ७००० सवारों का एक दल एकत्रित किया जिसमें अधिकांश लुटेरे थे और अन्त में अहमदाबाद नगर पर अधिकार कर लिया। गोविन्द राव गायकवाड़ को उसके विरुद्ध युद्ध करना पड़ा। इस कार्य में उसे गोसाईं-दल से बड़ी सहायता मिली। १८०० ई० की अप्रैल तथा मई में दो लड़ाइयाँ हुईं

जिनमें गायकवाड़ की जीत हुई तथा शत्रुओं से उन्होंने दो तोपें छीन लीं। इन साधुओं ने अपने स्वामी के लिए जिस तरह खून बहाया, उसका परिचय बड़ौदा के अभिलेखों से लग जाता है जिनमें यह लिखा है कि एक लड़ाई में केवल एक ही बेड़े के सात गोसाईं—जो सभी गिरि थे—घायल हुए। (३१ मई सन् १८००) दूसरे बेड़े में आठ घायल हुए, जिनमें पाँच गिरि तथा दो पुरी थे। इसी प्रकार और कितने ही आहत हुए। अब अबा बरसाद, मुहमदाबाद आदि के निकट के प्रदेश को लूटने में लगा हुआ था तो गायकवाड़ की सेना ने, जिसमें गोसाईं भी शामिल थे, आक्रमण कर उसे निकाल बाहर किया। बाद में अहमदाबाद नगर में उस पर आक्रमण किया और गोसाइयों की सहायता से उसे बन्दी बना लिया।

अगस्त सन् १७९७ में सोनगढ़ा के कान्होजी राव तथा उनके भीलों के उपद्रव को शान्त करने के लिए एक दल भेजा गया जिसमें गोसाईं भी काफी संख्या में थे। इस स्थल पर भी गोसाइयों ने अपने शौर्य का अच्छा परिचय दिया। (बड़ौदा राज्य-अभिलेख के ऐतिहासिक अंश खण्ड ६, पृष्ठ ८८४, ८७२-८७४ ; बड़ौदा के गायकवाड़ राज जो के अंग्रेजी अभिलेख खण्ड ३, पृष्ठ २२५, २२६, २४३ तथा गोविन्दराव गायकवाड़

द्वारा डंकन को लिखे गए पत्र) बड़ौदा राज्य सरकार के अभिलेखों में गिरि महन्तों के १६ बेड़ों का उल्लेख तथा साथ ही उनके लिए निश्चित वृत्ति का वर्णन मिलता है। ये पहले पिलाजीराव गायकवाड़ द्वारा झाँसी से लाए गए थे।

कच्छ में

कच्छ भुज के महाराज भारमल द्वितीय (शासन १८१३-१६) को भी नागाओं के एक दल ने अच्छी सहायता प्रदान की थी। इनके अनुयायियों को स्थायी रूप से राज्य की सेवा में रख लिया गया था। नागपंचमी के दिन निकलनेवाले महाराज के जुलूस में उनका पाँचवाँ स्थान रहता है। उन्हें वहाँ के बहुत ही वीर सिपाहियों के रूप में देखा जाता था।

जब मौरवी के सरदार ने गुजरात के गवर्नर सर बुलन्दखाँ (१७२५-३०) को सैनिक सेवाएँ भाड़े पर माँगीं और खाँ के भतीजे को एक टुकड़ी लाकर अपने बड़े भाई महाराज प्रागमल के भुज नगर को ले लिया तो महाराज को भाग कर अपनी राजधानी में शरण लेनी पड़ी। दूसरे दिन एक नागा-दल उनके रक्षार्थ आ गया और कच्छ-निवासी जाड़ेजा राजपूतों के साथ उन्होंने सर बुलन्द खाँ के भतीजे को पराजित कर मौत के घाट उतारा और प्रागमल को पुनः गद्दी पर बैठा दिया। (बाम्बे गजेटियर खण्ड ५, कच्छ अध्याय ३ और ७)
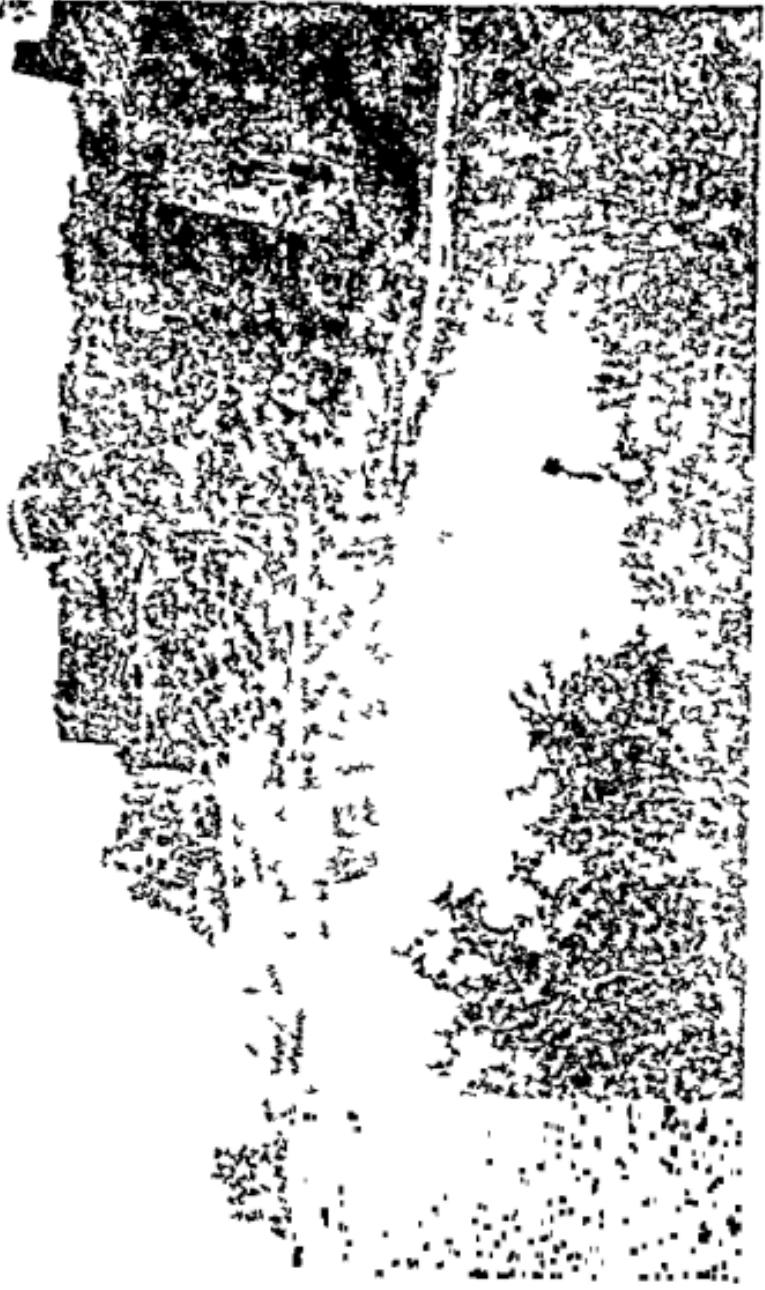
नागे लोगों ने अहमदाबाद का सरदार शेर बुलद खाँ के साथ कच्छ में लड़के भुज का किला जीत लिया

मेवाड़ में

सन् १६२८ में उदयपुर के महाराणा ने नाथू कोका को अपदस्थ कर नाथद्वारा-मन्दिर का प्रबन्ध स्वामी रामानन्द सरस्वती के हाथ में सौंपा। ये स्वामीजी पहले बनारस के दशनामियों के अखाड़ा के आचार्य थे। उस समय से वहाँ के मन्दिर की श्रीमूर्त्ति इन्हीं संन्यासियों के संरक्षकण में रहती है। सन् १७२६ से महाराणा का गुरु भी एक गिरि गोसाइं रहता चला आया है। (देखिए मठ के अभिलेख।)

अजमेर में

पुष्कर के दो पवित्र तीर्थों पर गूजरों की खानाबदोश लुटेरी जाति का अधिकार हो गया था परन्तु विक्रम संवत् १२१४ (११५७ ई०) की दीपावली की रात्रि को नागा संन्यासियों के दलों ने गूजरों को पराजित कर नगर ब्राह्मणों को सौंप दिया। उन्होंने वाराह के मन्दिर में भारतियों का, वैद्यनाथ-मन्दिर में ज्ञान नाथों का तथा ब्रह्म-सावित्री के मन्दिर में पुरियों का आधिपत्य जमा दिया। उस समय से अभी तक ये तीनों स्थान इन्हीं तीनों प्रकार के संन्यासियों के आधिपत्य में हैं।

झाँसी में

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में झाँसी नागाओं

का प्रधान केन्द्र था और गोसाईं राजा इस छोटे से राज्य पर, जो कि पहले के ओरछा के प्राचीन बुन्देल साम्राज्य से बहुत छोटा था, शासन किया करते थे। जब छत्रसाल ने पेशवा को बुन्देलखण्ड का एक बड़ा हिस्सा अनुदान-स्वरूप दे दिया तो इन्द्र गिरि गोसाईं ने जो कि झाँसी के किलेदार थे, गंगा पुरी के साथ मिल कर पेशवा के सूबेदार नारो शंकर को (झाँसी का गवर्नर १७४२-१७५६) हरा दिया और उसे प्रदेश पर अधिकार जमाने से रोक दिया। परन्तु उसने गंगा पुरी को अपनी ओर मिला लिया और उनकी सहायता से झाँसी पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। बाद में नारो शंकर के वापस बुला लिये जाने पर तथा पानीपत के तीसरे युद्ध के छिड़ जाने से वहाँ के मराठा-शासन की नींव कमजोर हो गई।

इसके पश्चात् रघुनाथ हरीराम नेवालकर ने (जिसने १७७० ई० से लेकर १७९४ ई० तक झाँसी की सूबेदारी की) अपनी योग्यता तथा अच्छे प्रशासन के बल पर झाँसी पर सुदृढ़ अधिकार जमा लिया। गोसाइयों की एक एक शिबंदी वहीं रहती रही और सिपाही-विद्रोह के समय तक अपने नए स्वामियों की सेवा करती रही। सन् १८५८ में जब झाँसी के दुर्ग का घेरा सर ह्यू रोज़ ने डाल दिया, तो वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई झाँसी दुर्ग से निकल कर बाहर

टीकमगढ़ के राजगुरु श्रीमहंत अर्जुन गिरिजी महाराज

चली गई। उस समय इन गोसाईं संन्यासियों ने, उनके अंगरक्षकों के रूप में, अच्छी सेवा की।

इसके अतिरिक्त अन्य कितने ही देशी राज्यों को इन गोसाईं संन्यासियों ने अपनी सैनिक सेवाएँ अर्पित कीं परन्तु स्थानाभाव के कारण उन सबका उल्लेख यहाँ करना सम्भव नहीं।

षोडश अध्याय

बैंकिंग तथा प्रशासनिक सेवाओं में गोसाईं

जिन गोसाइयों ने महाजनी के व्यवसाय को अपनाया, उन्हें राजपूताना, हैदराबाद तथा अन्य राज्यों में काफी सम्मान प्राप्त हुआ था। इन राज्यों के राजाओं पर मराठा या अन्य विजेताओं द्वारा जो कर लगाया जाता उसके लिए ये महाजन गोसाईं उन राजाओं की एक प्रकार से प्रतिभूति (सेक्यूरिटी) का काम करते थे। धार्मिक गुरुओं के पवित्र चरित्र से युक्त कितने ही गोसाईं शान्तिस्थापकों या राजदूतों का कार्य करते थे। उदयपुर के विजय भारती का वृत्तान्त चतुर्दश अध्याय में दिया जा चुका है। ये जयअप्पा सिन्धिया के नागौर-शिविर में समझौता कराने के लिए गए थे, जहाँ (१७५५ ई० में) मार डाले गए थे। विजय भारती के इस कार्य की पूर्त्ति महन्त अमर पुरी ने की थी। अमर पुरी जोधपुर के राजा द्वारा भेजे गए थे और मराठों से समझौता करने के कार्य में सफल हुए थे।

वारेन हेस्टिंग्ज ने जब भूटान के राजा के आक्रमण से कूच-विहार को सुरक्षित करने के लिए तथा बंगाल

और तिब्बत के पारस्परिक वाणिज्य का विकास करने के लिए लासा के त्सू लामा के पास ब्रिटिश राजदूत (१७७३–७५ में) ज्यार्ज बोगले तथा (१७८४ में) सेमुअल टर्नर को भेजा तो उसने पूरन गिरि नाम के एक गोसाईं को अपना प्रतिनिधि बनाया। इन पवित्र साधु का भूटान और तिब्बत से पहले से ही सम्बन्ध था। इन्होंने जो सूचना उस सम्बन्ध में दी, और जो व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित किया उससे ईस्ट इण्डिया कम्पनी को काफी लाभ हुआ। गवर्नर-जेनरल को लेफ्टीनेण्ट टर्नर ने जो रिपोर्ट दी थी उसमें पूरन गिरि की सहायता का महत्त्व पूर्ण रूप से दिखलाया है। इन गोसाईं का कलकत्ता के निकट भोट बागान में एक मठ था और ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उन्हें अनुदान स्वीकृत कर उनकी सेवाओं का पुरस्कार दिया। भोट बागान की जागीर के जमीन्दार वर्दवान के राजा साहब थे। पूरन गिरि की अनुपस्थिति में राजा वर्द-वान के मैनेजर ने उनके शिष्यों से जबर्दस्ती जागीर छीन कर उनकी सम्पत्ति को अपहृत कर लिया था। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने राजा को गोसाईंजी की जागीर पुनः वापस करने के लिए बाध्य किया। (देखिये त्सू लामा के दरबार का टर्नर का दूतावास।)

इन गोसाईं महाजनों से भारतीय राजाओं को अपने

सैनिक तथा नागरिक प्रबन्ध के संचालन में बड़ी सहायता मिली। इन लोगों ने उन राजाओं को ऋण देकर तथा युद्ध में होनेवाली हानि की, जो कि मराठे जैसे आक्रमण-कर्ताओं द्वारा कर लगाए जाते थे, बाकी अदायगी के लिए प्रतिभूति रूप में सहायक होकर राजाओं को बड़ा लाभ पहुँचाया। इस प्रकार उन्होंने उस प्रदेश को नष्ट होने से बचा लिया। हमारे इतिहास में हमें यह मिलता है कि युद्ध को चलाने में यूरोप की भाँति भारत को भी ऋण पर निर्भर रहना पड़ता था। इस प्रकार जब राजा शाहू ने १७३७ ई० में पुर्तगालियों से वेलीन जीतना प्रारम्भ किया तो उसने कुछ महाजनों से ३६ प्रतिशत सालाना के हिसाब से सूद देने तथा यदि युद्ध के अन्त पर वह रकम न अदा कर दे तो एक जिला गिरवी रखने का वायदा किया। उसी प्रकार पेशवा बाजीराव प्रथम (१७४०) की मृत्यु के पश्चात् यह पता लगा कि पेशवा सरकार को अब भी २० लाख से ऊपर का ऋण चुकाना है। इसमें से १ लाख ६६ हजार रुपया गोसाइयों से लिया गया था, जिनके नाम पेशवा के खाते में लिखे हुए हैं। (देखिये बाजीराव के ब्रह्मेन्द्र स्वामी के नाम पत्र)

राजाराम के शासन-काल में (१६६०-९९ ई०) मालवा के गवर्नर पंत जी शिवदेव सोमन ने गोसाईं से काफी

११ माख में ऋण लेकर, जिसमें से १० लाख अब भी (१७२७ में) बाकी है, अपने स्वामी की सरकार के शासन को कायम रखा था।

अपनी सरकार को चलाने के लिए नागपुर के भोंसले राजाओं ने और भी अधिक ऋण लिया था। इस रूप में उदय पुरी गोसाईं, जानोजी भोंसले को, सदैव सहायता देते रहे। उन्होंने उस समय, जब कि जानोजी की सेना अनाज न खरीद सकने के कारण भूखों मर रही थी, उन्हें १ लाख रुपया तुरन्त देकर उनके संकट को दूर किया था। उन्होंने जानोजी के भाई माधोजी भोंसले को जो ऋण दिया वह कुल ५० लाख रुपया हो गया था। ये गोसाईं महाजन महाजनी का कार्य करते हुए भी अन्य महाजनों की भाँति निष्ठुर न थे। बैजनाथ पुरी ने जानोजी भोंसले को १२ लाख रुपया कर्ज में दिया था। परन्तु उस सारे ऋण को जानोजी की निर्धनता तथा ऋण अदा करने की असमर्थता से क्षमा कर देने की घटना इस बात का प्रमाण है।

निज़ाम हैदराबाद की सरकार भी इन गोसाईं महाजनों की बड़ी कर्जदार थी। ये गोसाईं महाजन इस राज्य में काफी संख्या में थे और अपने धन तथा प्रभाव के कारण उन्हें सर्वाधिक सम्मान प्राप्त था। सन् १७४०

ई० के लगभग प्रथम निज़ाम आसफ़जाह ने जोगेन्द्र गिरि गोसाईं को, जिन्होंने निज़ाम को इस तरह की आर्थिक सहायता पहुँचाई, अनेक पुरस्कार तथा जागीर और एक उमरा के समान आदर देकर उनकी प्रतिष्ठा की थी। इसके पश्चात् गोसाइयों के मठों से निज़ाम सरकार ने समय-समय पर काफ़ी रुपया लिया था जो कुल करीब १ करोड़ के हो गया था। इस प्रकार वंशी गिरि मठ का ६० लाख, ज्ञान गिरि का २२ लाख, भूम गिरि का ८ लाख इत्यादि रुपया बाकी था। इस मूल रकम को चुकता न कर सकने के कारण निज़ाम सरकार ने एक गोसाईं को २० हजार सालाना आय की जागीर दी थी तथा अन्य गोसाइयों को जागीर देने का वायदा किया था। इन ऋणों के भुगतान के लिए गोसाइयों के पास पाँच वर्ष के लिए बरार गिरवी रख दिया गया था।

दशनामी गोसाइयों का कोई भी इतिहास तब तक पूरा नहीं माना जा सकता जब तक इस वर्ग द्वारा किए गए शिक्षा-प्रसार, धर्म-संस्थापन, दान-व्यवस्था, सार्वजनिक उपयोग के लिए निर्मित इमारतों तथा नागरिक प्रशासन आदि के कार्यों पर विचार नहीं किया जाता। स्थानाभाव के कारण यहाँ पर केवल उनका

संक्षिप्त एवं सामान्य इतिहास दिया जा रहा है और कितने ही मठों तथा वर्ग के महत्वपूर्ण व्यक्तियों के कार्यों को लिया ही नहीं जा रहा है। लेखक का विचार है कि इस कथन से लोग उसे पक्षपात का दोषी नहीं ठहरायेंगे। जो लोग इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें गोस्वामी पृथ्वी गिरि-हरि गिरि द्वारा दो खण्डों (पीतमल १९३१) में, मराठी भाषा में, लिखित गोसावी व त्यांचा सम्प्रदाय नामक पुस्तक से काफी सहायता मिल सकती है। इसमें विभिन्न स्रोतों तथा स्थानों में यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री को एकत्रित करके प्रकाशित कर इस क्षेत्र के भावी अनुसन्धानकों के उपयोग की कठिनाई को दूर कर दिया गया है। उपरोक्त पुस्तक लेखक की मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुई थी, इसलिए उसकी छपाई आदि की अशुद्धियों को सावधानी से दूर कर अध्ययन करना आवश्यक होगा। गोसाईं सम्प्रदाय के मठ और मन्दिर—गृहस्थ तथा संन्यासी दोनों में—सारे भारत में फैले हुए हैं और उनकी कुल संख्या कई हजार से ऊपर होगी। महाराष्ट्र, बरार और हैदराबाद तो गोसाइयों के मठों, मन्दिरों और घाटों की खान है। इन सब का उपयोग सारी जनता द्वारा होता है। यहाँ पर केवल थोड़े से स्थानों पर प्रकाश डालेंगे। इस सम्बन्ध में तो गोस्वामी

पृथ्वी गिरि की पुस्तक में भी पूरी सामग्री नहीं उपलब्ध है।

बोध गया का विश्व-विख्यात मन्दिर उस स्थान पर है जहाँ महात्मा बुद्ध को परम सत्य की सम्बोधि द्वारा ज्ञान हुआ था। यह मन्दिर जंगलों के बीच टूटी-फूटी दशा में पड़ा हुआ था। न वहाँ कोई आदमी था और न आदम-जात। उस समय घमंडी गिरि नाम के एक गोस्वामी यात्रा करते हुए (१५९० ई० में) पधारे और उसके निकट उन्होंने शैव मठ की स्थापना की। इस प्रकार यह स्थान पूर्ण रूप से ध्वस्त होने से बच गया और यात्रियों के लिए एक सुरक्षित तीर्थ-स्थान बन गया। उनकी सहायता से समय-समय पर इस मन्दिर की मरम्मत होती रही। उन महन्त की इस जागीर से अब छः लाख रुपए वार्षिक की आयहोती है।

प्रसिद्ध अरन बाबा मठ, तुलजापुर में स्थित है और महाराष्ट्र का सर्वश्रेष्ठ तीर्थ-स्थान माना जाता है। इसकी स्थापना केशव अरण्य अवधूत नामक एक दशनामी द्वारा १७५४ ई० में हुई थी जो बनारस से गए थे। उनके उत्तराधिकारी मठ में ही समाधिस्थ हैं। इसी नगर में, भवानी मन्दिर के निकट, भारती मठ तथा गरीबनाथ मठ इत्यादि स्थित हैं।

पूना नगर में ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ (१८१८) के समय कुल मठों की संख्या ४० थी। इस मराठा-राजधानी के प्रायः सभी भागों में सैकड़ों महन्तों की समाधियाँ अब भी बनी हुई हैं। नरपत गिरि बाबा ने एक सुन्दर विष्णु-मन्दिर बनवाया था। कल्याण गिरि मठ के महन्त नागेश्वर गिरि की दानशूरता बनारस से रामेश्वर तक प्रसिद्ध थी। उन्होंने यात्रियों के ठहरने के लिए २१ धर्मशालाएँ बनवाई थीं तथा कितने ही मन्दिरों की मरम्मत के लिए काफी परिमाण में धन व्यय किया था। पूना के गोसाइयों का भण्डारा प्राचीन काल का एक आश्चर्यजनक कार्य माना जाता था। कभी-कभी दस हजार तक गोसाईं दस दिन तक भोजन प्राप्त करते थे।

हरनाम गिरि एक गृहस्थ गोसाईं तथा प्रसिद्ध जौहरी ने पूना के संगम-तट पर एक प्रसिद्ध घाट बनवाया था।

हैदराबाद के प्रसिद्ध राजा बहादुर ज्ञान गिरि का मूल मठ पूना में ही था। इसके स्मरणार्थ राजा नरसिंह गिरि ने फर्गुसन कालेज की सड़क पर 'राजा ज्ञान गिरि वैदिक आश्रम' की स्थापना की है।

भोला गिरि बाबा की मृत्यु १८७३ ई० में हुई। ये ज्ञान गिरि मठ के शिष्य थे। इन्होंने वहाँ के स्थानीय प्रशासन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। उनके दातव्य कार्य स्मर-

णीय हैं तथा सोमेश्वर में स्थित उनकी, समाधि दर्श-नीय है ।

चंसा पुरी मठ सतारा के उस प्रसिद्ध जौहरी परिवार का है जिन्होंने राजाओं तथा सरदारों को ऋण दिया था तथा उस समय की राजनीति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला था।

हैदराबाद राज्य में जोगेन्द्र गिरि द्वारा मठ की स्थापना हुई थी । ये पूना के आनन्द गिरि-देव गिरि मठ से १७२५ ई० के लगभग गए थे । उनका निजाम सरकार में, प्रथम निजाम आसफजाह के समय से, काफी प्रभाव रहा । इस आश्रम के एक संन्यासी ने कल्यानी में—जो गुल-बर्गा तथा बीदर के मध्य में स्थित है—मठ की स्थापना की थी । उस मठ में एक लम्बी जागीर लगी हुई थी ।

हैदराबाद में राजा ज्ञान गिरि के शिष्य राजा नरसिंह गिरि ने सार्वजनिक हित में अपनी अतुल सम्पत्ति का जिस तरह उपयोग किया उसके लिए वे काफी प्रसिद्ध हैं । वे एक धनी मिल-मालिक तथा उद्योगपति हैं । उनके एक शिष्य प्रताप गिरि व्यापार के लिए प्रायः

अन्य शिष्य राजा धनराज गिरि ने भी सार्वजनिक हित के लिए अपनी काफी सम्पत्ति व्यय की है। वे आधुनिक हिन्दू समाज के विकास के प्रमुख स्तम्भ रहे हैं।

हैदराबाद के कुछ अन्य गोसाईं मठ भी बहुत सम्पन्न हैं। उनका वहाँ की राजनीति में वही स्थान है जो अन्य उमरावों का रहा है, परन्तु उनके अभिलेख हमें प्राप्त नहीं हो सके हैं।

इस प्रकार यह स्मरणीय है कि दशनामी गोसाईं आधुनिक युग में भी स्वार्थी और सुस्त नहीं रहे हैं। वर्त्तमान सभ्य युग की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए काशी, प्रयाग तथा अन्य कई स्थानों में स्कूल, कालेज तथा हिन्दू शिक्षण की अन्य संस्थाओं को स्थापित कर उन्होंने समाजोन्नति में सहयोग दिया है। उपरोक्त स्थानों में विद्वान, चरित्रवान् संस्कृत-पंडित और साधु शिक्षा देते हैं। इस वर्ग के महामंडलेश्वर, जिनकी ईसाई धर्म के बिशप तथा डीन आदि से तुलना की जा सकती है, वर्त्तमान युग के संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डितों में से हैं।

वे अपने मठों में ही नहीं बैठे रहते परन्तु सारे देश में भ्रमण करते हुए, अपने पवित्र जीवन का आदर्श रखते हुए, जनता को धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा देते हैं। आज के भौतिकता प्रधान युग में ऐसे शिक्षकों का महत्त्व अमूल्य है।